विषय-अनुक्रमणिका

अ. नं.	अधिकार	विषय	पृष्ठ
		प्रकाशकीय	
		मनोगत	१-३
		विषय प्रवेश	४-११
१.	अधिकार पहला	बंधकरण	१२-४२
२.	अधिकार दूसरा	सत्त्वकरण	४३-५४
३.	अधिकार तीसरा	उदयकरण	५५-८९
४.	अधिकार चौथा	उदीरणाकरण	९०-१०५
५.	अधिकार पाँचवा	उत्कर्षण-अपकर्षण	१०६-११५
६.	अधिकार छठवाँ	संक्रमण करण	११६-१२१
७.	अधिकार सातवाँ	उपशांत करण	१२२-१२७
८.	अधिकार आठवाँ	निधत्ति-निकाचित करण	१२८-१३९

मनोगत

मुझे विगत अनेक वर्षों से करणानुयोग सम्बन्धित ''गुणस्थान'' विषय के आधार से कक्षा लेने का सौभाग्य विभिन्न शिक्षण शिविरों के माध्यम से मिल रहा है।

प्रारम्भ में तो मात्र श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा जयपुर में आयोजित शिविरों में ही यह कक्षा चला करती थी; लेकिन श्रोताओं की बढ़ती हुई जिज्ञासा एवं माँग को देखते हुए अब प्रत्येक शिविर की यह एक अनिवार्य कक्षा बनी हुई है।

मैं प्रवचनार्थ जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ गुणस्थान प्रकरण को समझाने का आग्रह होने लगता है। श्रोताओं की इसप्रकार की विशेष जिज्ञासा ने मुझे इस विषय की ओर अधिक अध्ययन हेतु प्रेरित किया है।

गुणस्थानों को पढ़ाते समय कर्म की बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि अवस्थाओं को समझाना प्रासंगिक होता है।

कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं को करण कहते हैं। इन दसकरणों को समझाते समय मुझे प्रतीत हुआ कि इस संबंध में स्पष्ट और अधिक ज्ञान मुझे करना आवश्यक है।

अनेक विद्वानों से चर्चा करने पर किंचित समाधान भी होता था; फिर भी कुछ अस्पष्टता बनी रहती थी। इसकारण पुनः पुनः दशकरणों को सूक्ष्मता से समझने का मैं प्रयास करता रहा। उस प्रयास की यह परिणति दशकरण की कृति है।

अभी भी मैं कुछ सूक्ष्म विषयों में निर्मलता चाहता हूँ। हो सकता है, यह कृति करणानुयोग के अभ्यासी विद्वानों के अध्ययन का विषय बनेगी तब वे मुझे समझायेंगे तो मुझे लाभ ही होगा। मुझे आशा है विद्वत् वर्ग मुझे अवश्य सहयोग देगा।

१. दस करणों को समझने के प्रयास के काल में मैंने भीण्डर निवासी पण्डित श्री जवाहरलालजी की कृति **करणदशक** देखी।

२. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** की हिन्दी टीकाएँ, जो अनेक संस्थाओं से एवं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से संपादित हैं - उनको भी देखा।

३. दस करणों को समझने के लोभ से ही दसकरणों के संबंध में पुराने विद्वानों ने जो स्वतंत्र लेखन किया है, उसे भी देखा - उनमें **सुदृष्टितरंगिणी** एवं **भावदीपिका** भी सम्मिलित है। वैसे इस कृति में पण्डित श्री दीपचन्दजी कृत भावदीपिका के करणरूप विषय को पूर्णरूप से ही लिया है।

४. आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि की कृति **कर्मविज्ञान** से भी लाभ लिया है।

५. ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का **कर्मरहस्य, कर्मसिद्धान्त, कर्मसंस्कार** आदि का अच्छा लाभ मिला है।

६. पण्डित कैलाशचन्दजी बनारसवालों के **करणानुयोग प्रवेशिका** का भी उपयोग किया है।

अनेक विषयों की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ भी दी हैं। उससे पाठक विषय को स्पष्ट समझ सकेंगे।

करणानुयोग का कर्म विषय ही ऐसा है, जिसे यथार्थरूप से तो सर्वज्ञ भगवान ही जान सकते हैं। इस कारण ही कुछ विषयों को लेकर बड़े-बड़े आचार्यों में भी मतभेद पाया जाता है। वे भी क्या कर सकते हैं? जिनको अपनी गुरु परंपरा से ज्ञान प्राप्त हुआ, उन्होंने उसी को स्वीकार किया।

जीवादि सात तत्त्वों में ऐसा मतभेद नहीं होता; क्योंकि सप्त तत्त्व तो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं और उनका कथन स्पष्ट है। उनके यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

सूक्ष्म विषय समझना एवं समझाना सुलभ हो; इस भावना से इस

कृति में सर्वत्र प्रश्नोत्तर शैली का बुद्धिपूर्वक उपयोग किया है।

मेरे जीवन का बहुभाग धर्म के अध्ययन और अध्यापन में ही गया है; तथापि **अनेक वर्षों तक कर्म बलवान है, इस धारणा ने मुझे अत्यन्त परेशान किया था। ऐसी परेशानी अन्य साधर्मी को न हो; इस भावना से भी मैंने कुछ प्रश्नोत्तर बुद्धिपूर्वक इस कृति में लिये हैं।**

कुछ प्रश्न ऐसे भी हैं, जो पढ़ाते समय महाविद्यालय में विद्यार्थियों ने अथवा समाज में साधर्मियों ने पूछे थे।

एक दृष्टि से धर्मज्ञान के क्षेत्र में जो मैं समझ पाया, उसी का ही चित्रण इस कृति में है, कपोल-कल्पित कुछ नहीं है। **मैं धर्मक्षेत्र में कपोल-कल्पित विषय को स्वीकार करना भी नहीं चाहता; क्योंकि वह उचित भी नहीं है। सर्वज्ञ भगवान के उपदेशानुसार जो है, वही मान्य है।**

मैं अपना भाव स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा अध्ययन तो विशेष नहीं है तो भी **मैंने मात्र अपने उपयोग को निर्मल रखने के लिए तथा तत्त्वनिर्णय में अनुकूलता बनी रहे, इस धर्मभावना से दशकरणों के संबंध में कुछ लिखने का प्रयास किया है।** विज्ञ पाठक गलतियों की क्षमा करेंगे और मुझे मार्गदर्शन करेंगे। ऐसी अपेक्षा करता हूँ।

इस कृति को यथार्थ बनाने की भावना से मैंने अनेक लोगों को इसे दिखाया है और उनके सुझावों का लाभ भी उठाया है। उनमें पं. राजमलजी भोपाल, पं. प्रकाशजी छाबड़ा इन्दौर, विदुषी विजया भिशीकर कारंजा, पं. जीवेन्द्रजी जड़े, बाहुबली (कुंभोज), ब्र. विमलाबेन जबलपुर एवं अरुणकुमार जैन अलवर है। मैं इन सबका हृदय से आभार मानता हूँ। इनके सहयोग के बिना इस कृति का प्रकाशन संभव नहीं था।

साधर्मी इस कृति से लाभ उठा लेंगे, ऐसी अपेक्षा है। जिनागम के अभ्यासु पाठकगण इस कृति का अवलोकन करके मुझे आगम के आधार से मार्गदर्शन करेंगे ही यह भावना है।

- ब्र. यशपाल जैन

●

विषय-प्रवेश

'कर्म' इस शब्द से सामान्य जन परिचित तो हैं; तथापि कर्म शब्द का प्रयोग अनेक विषयों का प्रतिपादक है, इस संबंध में कुछ कम ही विचार किया जाता है। इसलिए यहाँ हम कुछ खुलासा कर रहे हैं।

जो मनुष्य सामान्यरूप से पढ़ाई करता है तो वह कम से कम इतना तो जानता ही है कि एक वाक्य में तीन विभाग होते हैं – एक कर्त्ता दूसरा कर्म और तीसरी क्रिया। इन तीनों के बिना वाक्य नहीं बनता। इसतरह व्याकरण शास्त्र में प्रत्येक वाक्य में कर्म होता है, जिसकी द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे राम ने लक्ष्मण को समझाया। इस वाक्य में राम कर्त्ता है, **लक्ष्मण कर्म** है और समझाया, यह क्रिया है। **यहाँ इस कृति में व्याकरण वाले कर्म का कुछ संबंध नहीं है।**

कर्म शब्द का उपयोग ग्रंथाधिराज समयसार शास्त्र में बहुत जगह आता है। समयसार में कर्त्ता-कर्म अधिकार नाम का एक स्वतंत्र अधिकार भी है। वहाँ तो द्रव्य को कर्त्ता और द्रव्य का जो परिणमन वह कर्म अथवा गुण को कर्त्ता और गुण का जो परिवर्तन/परिणमन होता है, उसे कर्म कहते हैं। द्रव्य व्यापक होता है और उसका परिणमन व्याप्य कहलाता है, उस व्याप्य को भी कर्म कहते हैं।[१] **यहाँ इस कृति में समयसार में समागत कर्म से भी कुछ संबंध नहीं है।**

भगवत् गीता वैदिक सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। भगवत् गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम भावना से कर्म/कार्य/कर्तव्य करते रहो, फल की अपेक्षा मत रखो; ऐसा उपदेश दिया है। **गीता में समागत कर्म का भी इस कृति से कुछ संबंध नहीं है।**

१. समयसार कलश क्र. ४९

एक दूसरे के साथ झगड़ा करने वाला तीव्र कषायी मनुष्य भी कहता है – "मैं तुम्हारे सब खटकर्म (पाप/अनुचित कार्य/निंदित कार्य) जानता हूँ। मुँह खोलूँगा तो पता चलेगा। चुप बैठने में ही तुम्हारी भलाई है।" **ऐसे प्रकरण में जो कर्म शब्द आता है, उसका भी यहाँ संबंध नहीं है।**

यहाँ सर्वज्ञ/केवली भगवान के दिव्यध्वनि में अथवा जिनेन्द्र कथित आगम/शास्त्र में जो कर्म शब्द आता है, मात्र उससे ही प्रयोजन है, जिसके ज्ञानावरणादि आठ भेद कहे जाते हैं।

कर्म की परिभाषा निम्नानुसार है – "जीव के मोह, राग, द्वेषादि परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्माणवर्गणारूप पुद्गल की विशिष्ट (जीव के साथ, एकक्षेत्रावगाही) अवस्था को कर्म कहते हैं।" ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमित होने योग्य वर्गणाओं (पुद्गल स्कन्धों) को कार्माणवर्गणा कहते हैं।

जिनेन्द्र कथित **ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की बंध, सत्व आदि दस अवस्थाएँ होती है। उन दस अवस्थाओं को यहाँ जानने का हमारा प्रयोजन है।**

कर्मबन्ध के अस्तित्व संबंधी कर्मविज्ञान ग्रन्थ का अंश अनुकूल लगा। जो इसप्रकार है –

"**सजीव – निर्जीव वस्तुओं का परस्पर बन्ध : प्रत्यक्षगोचर –**

संसार में सर्वत्र ईंट, सीमेंट आदि पदार्थ मकान के रूप में बंधे हुए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। अनेक कागजों को परस्पर मिलाकर, उन्हें सीं कर और चिपका कर पुस्तक की जिल्द बाँधी जाती है; यह कागजों का परस्पर बन्ध भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार एक जमींदार के घर में घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु रस्सी के द्वारा खूंटों से बंधे हुए नजर आते हैं। आटा, पानी आदि मिल कर गूँथने से एक पिण्ड बंध जाता है

और उसकी रोटी बनती हुई हम देखते हैं। इसी प्रकार संसार में अगणित चीजें बंधी हुई प्रत्यक्ष मालूम होती हैं।

यही नहीं, अध्यापक अध्यापन-कार्य से, वकील वकालत के पेशे से, व्यापारी अपने मनोनीत पदार्थ के व्यापार से, किसान कृषि से और चिकित्सक चिकित्सा-कार्य से बंधे होते हैं। माँ अपनी संतान के पालन-पोषण के लिए बंधी होती है। इसी प्रकार कई लोग अमुक-अमुक सजीव (परिवार, समाज आदि के सदस्यों) तथा निर्जीव (धन, सम्पत्ति, मकान, दुकान, कार, बंगला आदि) पदार्थों (द्रव्यों) के प्रति ममत्ववश बंधे होते हैं। अधिकांश लोग अमुक-अमुक क्षेत्र (ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि) के प्रति मोहवश बंधे रहते हैं। कई लोग अमुक काल से बंधे होते हैं। दफ्तर, दुकान, सर्विस आदि पर पहुँचने के लिए वे समय से बंधे होते हैं।

इसी प्रकार कई वस्तुएँ भी समय से बंधी होती हैं; जैसे – रेलगाड़ी, बस, विमान, रेडियो-प्रसारण, टाईमबम आदि।

संसार में विवाहित स्त्री-पुरुष प्रणयभाव से, माता-पुत्र वात्सल्यभाव से, गुरु-शिष्य उपकार्य-उपकारक भाव से तथा नौकर-मालिक स्वामी-सेवक भाव से बंधे हुए होते हैं। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्ति परस्पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से परस्पर सम्बद्ध और प्रतिबद्ध देखे जाते हैं।

आत्मा के साथ कर्मों के बन्ध के विषय में शंकाशील मानव –

ये सब वस्तुएँ एक दूसरे के साथ बन्धन के रूप में प्रत्यक्ष बद्ध दिखाई देती हैं, किन्तु जीव (आत्मा) के साथ कर्मबन्ध चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इस कारण कतिपय नास्तिक, अविश्वासी, अश्रद्धालु तथा संशयशील मस्तिष्क वाले व्यक्ति कर्मबन्ध का अस्तित्व नहीं मानते। उनका कहना है – मिट्टी और पानी के सम्बन्ध से घट,

तन्तुओं के परस्पर सम्बन्ध से पट आदि की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध या बन्ध प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। फिर अमूर्त आत्मा (जीव) का मूर्त जड़ कर्मों से बन्ध कैसे हो सकता है? इन और ऐसे ही कुतर्कों के आधार पर वे लोग कर्मबन्ध का अस्तित्व मानने से इन्कार करते हैं।

संकटापन्न स्थिति में उनके द्वारा कर्मबन्ध का स्वीकार –

किन्तु वे ही महाशय अथवा पापकर्मी, स्वच्छन्दाचारी नास्तिक जब चारों ओर से किसी अपरिहार्य संकट, असह्य कष्ट, दुःसाध्य व्याधि अथवा किसी विपत्ति से घिर ही जाते हैं अथवा किसी स्वजन के वियोग से संतप्त होते हैं या पापकर्मग्रस्त व्यक्ति स्वयं कदाचित् मरणासन्न स्थिति में होते हैं। चारों ओर से हाथ-पैर मारने अथवा अनेक उपाय करने पर तथा पैसा पानी की तरह बहा देने पर भी जब उक्त संकट, कष्ट, रोग, संताप, विपत्ति एवं स्थिति आदि का निवारण नहीं होता, प्रश्न उलझता जाता है, तब वे ही लोग कर्मबन्ध के अस्तित्व को एक या दूसरे प्रकार से स्वीकार करते देखे गए हैं।''[१]

अनादिकाल से आज तक अनन्त जीव सर्वज्ञ हो चुके हैं। भविष्य में अनन्त जीव सर्वज्ञ होनेवाले हैं। उन सभी सर्वज्ञ भगवन्तों ने अपनी दिव्यध्वनि में अनंत जीवों के कल्याण के लिए जिस तत्त्व का कथन किया है तथा करते रहते हैं उसका नाम **जिनधर्म/जैनधर्म है।**

जिनधर्म का प्रमुख वक्ता सर्वज्ञ भगवान ही होते हैं। इसलिए जिनवाणी (ग्रन्थ) के मूल ग्रन्थकर्त्ता सर्वज्ञ ही कहलाते हैं - ''अस्य मूल ग्रन्थकर्तारः सर्वज्ञ देवाः''। इसलिए जिनधर्म में असत्य कथन तो हो ही नहीं सकता। जिनेन्द्र भगवान के सच्चे अनुयायी को इस तरह की यथार्थ एवं दृढ़ श्रद्धा होती है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में यह तथ्य सदा ही आता है कि **'सर्वज्ञ भगवान तो जिनधर्म का मूल है।'** सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में तो चारों अनुयोगों का कथन रहता है।

१. कर्मविज्ञान भाग-४, पृष्ठ-३,४

प्रथमानुयोग में मोक्षमार्गी अथवा मुक्तिप्राप्त महापुरुषों का पवित्र जीवन चरित्र होता है; जिससे पात्र जीवों को अपने जीवन में आदर्श बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है। उसमें जीव का चरित्र प्रत्यक्ष होने के कारण इस अनुयोग का कथन **सामान्यरूप से स्थूल रहता है। इस अनुयोग के अध्ययन से मनुष्य को अपने जीवन को पुण्यमय बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है।**

चरणानुयोग में मुख्यरूप से बाह्य आचरण की प्रधानता होने से खान-पान की, सदाचार की, पुण्यमय परिणामों की अधिकता रहती है। इसलिए चरणानुयोग के कथन में भी **स्थूलता** होती है। **चरणानुयोग के अभ्यास से मनुष्य का जीवन सदाचारमय बनता है।**

द्रव्यानुयोग में ९ पदार्थ, ७ तत्त्व, ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय तथा द्रव्य, गुण, पर्याय का बुद्धिगम्य कथन होता है। इसी अनुयोग में प्रत्येक जीव को निश्चयनय की अपेक्षा से स्वभाव से भगवान कहा जाता है। सभी पात्र जीवों को वस्तु स्वरूप का विषय समझ में आ जाय, **जीवन में मोक्षमार्ग प्रगट हो, इस उद्देश्य से द्रव्यानुयोग में उपदेश रहता है,** अतः कथन में **स्थूलपना रहता** है। इस अनुयोग का कथन उपादेय होते होते हुए भी स्थूल है।

अब रहा **करणानुयोग का विषय।** इस अनुयोग में असंख्यात द्वीप, असंख्यात समुद्र, अकृत्रिम जिनबिंब, जिन चैत्यालय, अलौकिक गणित, कर्म आदि दूरस्थ तथा सूक्ष्म विषयों का कथन होता है। इस अनुयोग में उपर्युक्त विषयों का ज्ञान तो किया जाता है; तथापि सर्वत्र बुद्धिपूर्वक परीक्षा करना सम्भव नहीं है।

आगम गर्भित युक्तियों से परीक्षा (सत्यासत्य का निर्णय) करना अलग विषय है और बुद्धिगम्य विषयों के माध्यम से परीक्षा करना अलग बात है।

हमें यहाँ इस कृति में सर्वज्ञ कथित सूक्ष्म विषय कर्म के संबंध में ही जानने का प्रयास करना है। जो **कर्म** का विषय आज प्रायः जीवों को **न स्पर्श मूलक समझ में आया है, न रसनेन्द्रिय से जीव कर्म को चख सके हैं, न घ्राणेन्द्रिय से उसकी गंध सूंघ सके हैं, न आँखों से देख सके हैं और कर्मों का कानों से सुनना भी नहीं बना है; क्योंकि कोई भी कर्म इन्द्रियगम्य नहीं है।** इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि हम उसे जान ही नहीं सकते।

कर्मविषयक ज्ञान सिर्फ आगम प्रमाण से ही हो सकता है। सर्वज्ञ भगवान का उपदेश आज भी हमारे पास शास्त्रों के माध्यम से सुरक्षित है। उन शास्त्रों को पढ़कर हम कर्मों को जान सकते हैं। इन कर्मों का कथन मात्र कुछ ही इने-गिने शास्त्रों में आता है, ऐसा नहीं।

प्रथमानुयोगादि चारों अनुयोगों में कर्म का कथन नियम से आता ही रहता है जैसे हरिवंश पुराण के प्रारंभ में लगभग १०० पेजों में यही विषय है। करणानुयोग में कर्म के कथन की ही मुख्यता रहती है।

वैसे आचार्य वीरसेन ने कर्मों के कथन को द्रव्यानुयोग/अध्यात्म[१] का कथन भी कहा है। अस्तु। **हमें तो यहाँ कर्मों की बंध आदि दस अवस्थाओं पर विचार करना है।**

कर्म की अवस्था को करण कहते हैं।

प्रश्न :- कर्म की कितनी और कौन-कौनसी अवस्थाएँ होती हैं?

उत्तर :- कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं - १. बंध, २. सत्त्व (सत्ता), ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उत्कर्षण, ६. अपकर्षण, ७. संक्रमण, ८. उपशांत, ९. निधत्ति, १०. निकाचित।

इन दसों का क्रम भी वैज्ञानिक है; क्योंकि १. यदि जीव को कर्म का बन्ध नहीं होगा तो जीव की देखने में आनेवाली विविध अवस्थाएँ नहीं होगी और दुःखरूप संसार अवस्था का भी अभाव ही हो जायेगा।

२. यदि कर्म का बंध ही न हो तो उनका सत्त्व (सत्ता/अस्तित्व) कहाँ से होगा?

१. धवला पुस्तक १३ मूल ग्रन्थ पृष्ठ ३६, प्रस्तावना, पृष्ठ-४

३. यदि कर्मों की सत्ता ही न हो तो उदय कहाँ से कैसा होगा?

४. यदि कर्म का उदय ही न हो तो उदीरणा कैसी होगी? कर्मशास्त्र का यह सामान्य नियम है कि जिस कर्म का उदय रहता है, उस कर्म की ही उदीरणा हो सकती है।

५. जिस कर्म का बंध हुआ हो, उसमें ही स्थिति-अनुभाग बढ़नेरूप कार्य होगा अर्थात् उत्कर्षण होगा।

६. जिस कर्म का बंध हुआ हो, उसमें ही स्थिति-अनुभाग का घटनेरूप कार्य अर्थात् अपकर्षण होगा।

७. कर्म का पहले से ही जीव के साथ बंध हुआ हो तो ही कर्म में संक्रमण अर्थात् परिवर्तन/बदलनेरूप कार्य होगा।

८. कर्मबंध हुआ हो तो ही उसमें उदय-उदीरणा के न होनेरूप उपशांतकरण का कार्य होगा।

९. यदि कर्म का बंध हुआ हो तो ही संक्रमण और उदीरणा न होनेरूप निधत्ति का कार्य होगा।

१०. यदि कर्म का बंधन हुआ हो तो ही संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षणरूप कार्य न होनेरूप निकाचित कर्म बनेगा।

संक्षेप में इतना ही हमें समझना है - कर्म की **बंध अवस्था इन सब कारणों का मूल है। अतः उसे सहज ही प्रथम क्रमांक मिला है।**

आचार्यों ने बंधकरण का जो स्वरूप शास्त्र में लिखा है उसे क्रम से जानने का हम यहाँ प्रयास करते हैं।

अब बंधकरण आदि दश करणों को शास्त्र के आधार से एवं आगमगर्भित तर्क एवं युक्ति से समझाने का प्रयास करते हैं।

करण शब्द के अर्थ :-

१. करण शब्द का **गणित** अर्थ किया जाता है।
२. करण शब्द का प्रसिद्ध अर्थ **इंद्रिय** है।

३. समयसार की आत्मख्याति टीका में श्री अमृतचंद्राचार्य ने **करण नामक एक शक्ति** भी बताई है।   (43 क्रमांक की शक्ति)
४. जीव के **परिणामों को भी करण** कहते हैं। जैसे - अधःकरण आदि।
५. **षट्कारक में करण नाम का एक कारक होता है। करण कारक साधन के अर्थ में होता है।**
६. **करण शब्द यहाँ अर्थात् इस दस करण के प्रकरण में कर्म प्रकृति की विशिष्ट अवस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है।**

प्राचीनकाल में हुए आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनके नाम षट्खंडागम, कषायपाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवला, जयधवला, महाधवला आदि टीका ग्रन्थ हैं। इनमें बंधकरण आदि का विस्तृत विवेचन है। उस विवेचन को संस्कृत-प्राकृत भाषा में ही देने से सामान्य पाठकों को कुछ लाभ तो होगा ही नहीं।

उन ग्रन्थों के ही विषय का हिन्दी भाषा में अनुवाद विद्वान लोगों ने बड़े परिश्रम के साथ किया है। इसलिए हम उन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद को ही आवश्यक/योग्य स्थान पर पाठकों को लाभ हो, इस भावना से संक्षेप में देना चाहते हैं। पाठक उसका लाभ अवश्य लेंगे, ऐसी आशा है।

इस **'दशकरण-चर्चा'** कृति में हमने बंध, सत्त्व आदि करणों का निम्न ३ विभागों में विभाजित करके स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वे विभाग इसप्रकार हैं -

१. आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर
२. भावदीपिका - चूलिका अधिकार
३. आगम आधारित प्रश्नोत्तर

अब प्रथमतः बंधकरण पर विचार करते हैं -

अधिकार पहला

१ - बंधकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

आगमाश्रित इस विभाग में जो विषय आयेगा, उसका विशद ज्ञान हो; इस अभिप्राय से सरलता के लिए यहाँ चर्चात्मक अनेक प्रश्नोत्तरों के आधार से बंधकरण की चर्चा करने का प्रयास किया है।

अध्ययन-अध्यापन करते समय मन में जो प्रश्न सहज उत्पन्न होते गये, उनका उत्तर देने का मैंने प्रयत्न किया है।

१. प्रश्न : बंधकरण और बंध तत्त्व में क्या अंतर है?

उत्तर : १. बंधकरण कर्म की दस अवस्थाओं में से एक अवस्था है; जो प्रथम क्रमांक की है।

☛ बंध तत्त्व प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में से एक तत्त्व है।

२. बंधकरण द्रव्यकर्म की एक अवस्था होने के कारण से ज्ञेय है।

☛ बंध तत्त्व ज्ञेय होते हुए बंधत्व की दृष्टि से हेय भी है।

☛ ३. बंधकरण में जीव के मोह, राग-द्वेषरूप विकारी भावों के निमित्त से कार्माण-वर्गणाओं का जीव के प्रदेशों के साथ परस्परावगाहरूप संबंध के कथन की (द्रव्यबंध की) मुख्यता है।

☛ बंध तत्त्व में जीव के उपयोग (ज्ञान-दर्शन) का मोह, राग-द्वेष रूप परिणामों में जुड़ने की/संलग्न रहने (भावबंध) की मुख्यता है।

४. संसारी जीवों को प्रतिसमय बंध हो रहा है। अतः बंधकरण **अनादि से चल ही रहा है।**

☛ अज्ञानी जीव बंध तत्त्व को विकल्परूप से जानते हुए भी उसके अभाव का पुरुषार्थ नहीं करते। अतः **बंध तत्त्व भी अनादि से है।**

५. बंधकरण मुख्यरूप से करणानुयोग का विषय है अर्थात् कर्मों की विशिष्ट अवस्था है।

6. बंध तत्त्व मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग का विषय है।

☛ कर्मों का बंध, तात्त्विक दृष्टि से बंधतत्त्व है तथा करण की दृष्टि से बन्धकरण है।

☛ बंधकरण के सामान्यतया चार भेद हैं - १. प्रकृति बंध, २. प्रदेश बंध, ३. स्थिति बंध, ४. अनुभाग बंध।

७. बंधकरण के स्वरूप का ज्ञान अनिवार्य नहीं है।

☛ बंध तत्त्व का ज्ञान अनिवार्य है; क्योंकि प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में से बंध तत्त्व एक तत्त्व है।

८. बंधकरण जीव को दुःख का निमित्त कारण है।

☛ बंध तत्त्व भाव स्वरूप से आकुलतामय होने से वह हेयरूप से स्वीकार करने योग्य है।

२. प्रश्न : जिसप्रकार बंध कर्म की अवस्था है, उसीप्रकार आस्रव भी कर्म की ही अवस्था है। इसलिए जैसे कर्मबंध को दस करणों में लिया है; वैसे आस्रव को भी करणों में लेना चाहिए था; क्यों नहीं लिया?

उत्तर :- आपकी बात सही है; परन्तु आस्रव और बंध दोनों को अभेद जानकर (एक ही मानकर) स्वतंत्ररूप से आस्रव को करणों में नहीं लिया है।

☛ बंध में ही आस्रव को गर्भित किया है।

☛ आस्रव और बंध होने का कार्य भी **एक साथ एक ही समय में** होता है; इस विवक्षा को भी हमें स्वीकारना आवश्यक है।

दूसरा विषय यह भी है कि 'दशकरण' यह विषय करणानुयोग का है और **करणानुयोग के सभी विषयों की परीक्षा नहीं हो सकती। इसलिए करणानुयोग को अहेतुवाद आगम भी कहा है।** अतः हमारा यही कर्त्तव्य है कि आचार्यों ने जो कुछ भी कहा है, उसे यथार्थ रूप से जानना एवं स्वीकारना है।

३. प्रश्न :- आबाधाकाल भी कर्म की एक अवस्था है, इसलिए आबाधाकाल को भी करण में लेकर करणों को ११ कहना चाहिए था; आबाधाकाल को करणों में क्यों नहीं लिया?

उत्तर :- पहले हमें आबाधाकाल की परिभाषा स्पष्ट समझना आवश्यक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है -

कम्मसरूवेणागय दव्वं ण य एदि उदयरूवेण।
रूवेणुदीरणस्स य आबाहा जाव ताव हवे।।९१४।।

''कर्मस्वरूप से परिणत हुआ कार्माण द्रव्य, जब तक उदय या उदीरणारूप नहीं होता तब तक का काल आबाधाकाल कहलाता है।''

☞ एक कोडाकोडी सागर स्थितिबंध का १०० वर्ष प्रमाण उदय आबाधाकाल होता है, यह नियम है। **- गो.क. गाथा ९१५**

☞ इसीप्रकार अन्य कर्मों का उदय आबाधाकाल निकालना चाहिए।

आपका मूल प्रश्न तो आबाधाकाल को अलगरूप से/कर्म की अवस्थारूप से क्यों नहीं लिया? यह है।

आप आबाधाकाल की परिभाषा को सूक्ष्मता से जानने का प्रयास करोगे तो सब सहज समझ में आयेगा।

परिभाषा के प्रारम्भ में ही आया है 'कर्मस्वरूप से परिणत हुआ कार्माण द्रव्य' इसका अर्थ जो जीव के साथ कर्मस्वरूप से परिणत हुआ है, उसकी बात चल रही है - अर्थात् जो कर्मरूप से जीव के साथ बंध चुका है, उसकी चर्चा चल रही है - अर्थात् बंधकरण की ही बात

है। इसका अर्थ **बंधकरण में ही आबाधाकाल गर्भित है, अन्य कुछ कर्म की अवस्था नहीं है।**

४. प्रश्न :- बंधकरण और आबाधाकाल एक अपेक्षा से एक होने पर भी कुछ अंतर तो होगा ही - वह अंतर क्या है?

उत्तर :- बंधा हुआ कर्म जब तक जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से रहता तो है; परन्तु उदय में नहीं आता तबतक के काल को आबाधाकाल कहते हैं।

स्थितिबंध में से आबाधाकाल को छोड़कर आगे के कर्मों में निषेक रचना होती है। इसलिए आबाधाकाल पूर्ण होने पर समय-समय प्रति निषेकों का उदय आता रहता है। (एक समय में उदय आनेयोग्य कर्मसमूह को **निषेक** कहते हैं)।

संक्षेप में हम ऐसा कह सकते हैं कि - 'निषेकरचना रहित स्थितिबंध के काल को **आबाधाकाल** कहते हैं।' 'आबाधाकाल को छोड़कर शेष स्थितिबंध में निषेकरचना होती है।' इसका अर्थ यह हुआ - स्थितिबंधरूप बंधकरण के दो भेद होते हैं - पहला भेद आबाधारूप स्थितिबंध और दूसरा निषेकरचनारूप स्थितिबंध।

५. प्रश्न :- आबाधाकालरूप सत्ता और उदयावली के बाद में अर्थात् उपरितन विभाग में स्थित कर्मों की सत्ता में क्या कुछ अंतर भी है?

उत्तर :- आपका प्रश्न ही गलत है; क्योंकि आबाधाकालरूप सत्ता और उपरितन विभाग में स्थित कर्मों की सत्ता - ऐसे कर्म की सत्ता (सत्त्व) के दो भेद है ही नहीं। जिस विवक्षित कर्म का वर्तमान में नवीन बंध हो रहा है और जिसकी आबाधा भी सुनिश्चित है, उस आबाधाकाल में नवीन कर्मों की सत्ता ही नहीं है। इसकारण से आबाधाकाल के बाद ही प्रत्येक समय में निषेकों की रचना होती है।

जहाँ निषेकों की रचना न हों वहाँ उन कर्मों की सत्ता कैसी होगी?

विवक्षित कर्म की आबाधाकाल के समय से पहले, पूर्व काल में बंधे हुए कर्मों की सत्ता भी है, निषेकरचना भी है और उनका यथाकाल उदयादि कार्य भी होते ही रहेंगे।

जो नवीन कर्म का बंध हो रहा है और जिसकी आबाधाकाल की चर्चा चल रही है, उस कर्म की सत्ता और निषेक रचना तो आबाधाकाल के समय ही रहती है। इसलिए आबाधाकाल रूप सत्ता और उपरितन विभाग में स्थित सत्ता – ऐसे सत्ता (सत्त्व/कर्म का अस्तित्व) के दो भेद नहीं हैं।

वैसे सत्ता में पड़ा हुआ सर्व कर्म भी उदयकाल के बिना मिट्टी के ढेले के समान ही है; तथापि उसमें निषेक रचना होने से आज नहीं तो कल क्रमशः उदयकाल आने पर फल देने की पात्रता है।

६. प्रश्न :– आबाधाकाल में कर्म की निषेकरचना होती नहीं – इसका अर्थ जब जिस विवक्षित कर्म का आबाधाकाल है, तब उस विवक्षित कर्म की उस आबाधाकाल में सत्ता भी नहीं है। जब से निषेकों का उदय प्रारंभ होगा वहीं से (उस समय से) ही चारों प्रकार के बंध विद्यमान है अर्थात् कर्म की सत्ता मानना क्या उचित हैं?

उत्तर :– आपका कहना सही है।

आप गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ९१९ को पढ़ोगे तो सब समझ में आयेगा; उसमें कहा है –

आबाहूणियकम्मट्ठिदी णिसेगो दु सत्तकम्माणं।
आउस्स णिसेगो पुण सगट्ठिदी होदि णियमेण।।

टीका – आयु बिना सात कर्मों की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें से आबाधाकाल घटाने पर जो शेष रहे, उस काल के समयों का जो प्रमाण – वही निषेकों का प्रमाण जानना। तथा आयुकर्म की जितनी स्थिति हो, उसके समयों का जो प्रमाण, वही निषेकों का प्रमाण जानना; क्योंकि आयु की आबाधा पूर्वभव की आयु में व्यतीत हो जाती है।

उदाहरण – मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म की स्थिति ७० कोडाकोडी सागर की है; उसका आबाधाकाल ७ हजार वर्ष होता है। अर्थात् मिथ्यात्व कर्म का नवीन बंध होने पर ७ हजार वर्षों में निषेक रचना नहीं होती। ७ हजार वर्ष के बाद के स्थितिबंध की निषेक **रचना बंध के समय ही होती है।**

ब्र. जिनेन्द्र वर्णीजी ने आबाधाकाल का खुलासा निम्नप्रकार किया है –

''कर्म, बंधने के पश्चात् जितने समय तक आत्मा को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता, अर्थात् उदय में नहीं आता, यानी बद्धकर्म अपना शुभाशुभ फल चखवाने या फल का वेदन कराने को उद्यत नहीं होता, उतने काल को आबाधाकाल कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं पैदा हो जाती। यह होती है – एक निश्चित काल सीमा के पश्चात् ही। कर्म की यह अवस्था आबाधा कहलाती है।

बन्ध और उदय के अन्तर (मध्य) का जो काल है, वह आबाधाकाल है।[१]''

७. प्रश्न :– समुद्‌घात किसे कहते हैं? वह कितने प्रकार का है? – यह बताकर क्या किसी भी समुद्‌घात के काल में जीव को नया कर्म का बंध भी होता है। यह स्पष्ट कीजिए?

उत्तर :– मूल शरीर को न छोड़कर तैजस–कार्माणरूप उत्तर देह के साथ जीव–प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्‌घात कहते हैं।

समुद्‌घात सात प्रकार का होता है – वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस आहारक और केवली समुद्‌घात।

हाँ, समुद्‌घात के काल में भी समुद्‌घात करनेवाले जीव को नया कर्म का बंध होता ही रहता है। इतनी विशेषता समझना चाहिए कि दसवें गुणस्थान पर्यन्त तो साम्परायिक आस्रव के कारण कर्म का बंध होता है; क्योंकि दसवें गुणस्थान पर्यन्त कषाय परिणाम रहता है।

१. कर्म सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी) पृ. ९४, ९५

उपशांतमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थान में मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। केवली समुद्घात के काल में भी ईर्यापथास्रव होता है। बंध एक समय का होता है, जो गौण है।

हमें सामान्य नियम यह समझना आवश्यक है कि जब तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय एवं योग परिणाम रहते हैं, तबतक तो जीव कुछ भी करता रहे तो भी जीव को नया कर्म का बंध होता ही रहता है।

८. प्रश्न :– विशेष पुरुषार्थी दसवें गुणस्थानवर्ती, भावलिंगी मुनिराज को भी ध्यानावस्था (शुद्धोपयोग) होने पर भी नया कर्म का बंध क्यों होता है?

उत्तर :– अरे भाई! ऊपर के प्रश्न के उत्तर में ही बताया है कि जब तक जीव को मिथ्यात्व से लेकर सूक्ष्म लोभ कषाय पर्यन्त के मोह परिणाम होते हैं, तब तक नया कर्म का बंध होता ही रहता है। मुनिराज को ध्यानावस्था में शुद्धोपयोग होने पर भी सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यन्त अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम होने से नया कर्म का बंध होता ही है।

९. प्रश्न :– ध्यानावस्था/शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धात्मा में लीनतारूप सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होने पर भी कषाय परिणाम कैसे पाये जाते हैं?

उत्तर :– कषायादि मोहरूप परिणाम दो प्रकार के होते हैं – १. बुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम और २. अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम।

ध्यानावस्था में अथवा नींद में अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम होते रहते हैं। अतः नया कर्म का बंध भी कषाय से होता ही रहता है।

अपने या दूसरे के ज्ञान में स्पष्ट जानने में आनेवाले कषाय को बुद्धिपूर्वक कषाय कहते हैं। और अपने या दूसरे के ज्ञान में जो कषाय परिणाम स्पष्ट जानने में नहीं आते, उन्हें अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम कहते हैं।

निद्रा के काल में, विग्रहगति में, बेहोशी अवस्था में भी अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम होते हैं; इसलिए नया कर्म का बंध भी होता ही रहता है।

१०. प्रश्न :– बंधकरण के कारण तो मोहादि दुःखद विकारी परिणाम हैं। बंधकरण संसाररूप है, क्या उनको जानने से भी हमें कुछ लाभ हो सकता है क्या?

उत्तर :– बंधकरण को जानने से भी जीव को लाभ तो होता ही है। जिससे कुछ भी लाभ न हो, उनको हमें जानना भी नहीं चाहिए।

वीतराग वाणी (सच्चे शास्त्र) में ऐसा कोई भी कथन नहीं होता, जिसको जानने से कुछ भी लाभ न हो।

१. जैसे संसारी जीव को दुःख होता है, वही दुःख जीव के **सुखस्वभाव** की सिद्धि करता है, वैसे बंधकरण को जानने से ही अबंध स्वभाव का अर्थात् अनादिकाल से मैं **मोक्षस्वरूप ही हूँ,** ऐसा दृढ़ निर्णय होता है।

२. आज जो अनंत जीव सिद्धालय में सिद्ध परमेष्ठीरूप से हैं, वे जीव भी हम जैसे ही संसार में कर्मों से बंधे हुए थे, दुःखी थे; तथापि विशिष्ट पुरुषार्थ से वे जैसे कर्मों से रहित होकर मुक्त हो गये हैं/अनन्त सुखी हो गये हैं; वैसे **मैं भी पुरुषार्थपूर्वक सिद्ध बन सकता हूँ; ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है।**

३. बंधकरण नाना जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। अभव्य जीव के लिए भी बंधकरण नियम से अनादि-अनन्त ही होता है; तथापि मेरे लिए बंधकरण अनादि होने पर भी अनन्त नहीं हो सकता, वह सान्त ही हैं; ऐसा निर्णय भव्यों को हो सकता है।

११. प्रश्न :– आबाधाकाल को जानने से हमें क्या लाभ होता है?

उत्तर :– 1. पापमय परिणामों से पाप कर्म का बंध होता है और पुण्यमय परिणामों से पाप-पुण्यरूप दोनों ही कर्मों का बंध होता है; यह कर्मबंध का सामान्य नियम है।

मिथ्यात्वादि तीव्र कषाय परिणाम पापमय है। अज्ञानी जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के वश होने से सहज ही सर्वज्ञ प्रणीत आबाधाकाल के स्वरूप को न जानने वाला मिथ्यात्व एवं सप्तव्यसनादि अति घोर पापमय परिणाम करता रहता है। अन्याय, अनीति के साथ अभक्ष्य का खान-पान भी बिना संकोच करता रहता है; क्योंकि उसको ऐसा लगता है कि हम तो पाप कर रहे हैं, उसका फल कहाँ मिल रहा है।

उसी समय सहज योग से उसको उसी जीव के ही पूर्वबद्ध पुण्य के उदय से मनुष्य जीवन में सब प्रकार की अनुकूलता मिलती रहती है। इससे उसे पुण्यपाप की शास्त्रीय धारणा मिथ्या लगती है।

कर्मबन्धन एवं कर्मोदय तथा आबाधाकाल – इनका ज्ञान न होने से निजशुद्धात्मस्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी को अपने मिथ्यात्व अथवा सप्तव्यसन के कारण से, अन्याय, अनीति से अनुकूलता मिल रही है; ऐसा भ्रम रहता है। इस कारण अन्याय-अनीतिमय कार्य ही में उसकी प्रीति एवं श्रद्धा बढ़ती रहती है और इन पापमय विपरीत कार्य तथा अन्यथा श्रद्धा के साथ दुर्लभ मनुष्य जीवन का विशेष लाभ प्राप्त न करते हुए व्यर्थ ही जीवन समाप्त होता है।

कोई भी छोटा-बड़ा पाप हो, उस पाप का उसी समय पाप करनेवाले को पापरूप कर्म का बंध तो नियम से होता है; तथापि उसी समय हुए उस पापकर्म के बंध का फल न मिलने का भी नियम है। विशेष बात यह है कि - दीर्घ स्थितिवाले पाप कर्म का तो दीर्घ समय पर्यन्त फल न मिलने का नियम है। इसीतरह दीर्घ स्थितिवाले पुण्य कर्म हो तो भी दीर्घ समय पर्यन्त फल न मिलने का नियम है।

कर्म का बंध होने के बाद 'कुछ काल व्यतीत होने पर ही कर्म के फल मिलने का जो यह नियम है, उसे ही आबाधाकाल कहते हैं।'

यदि जीव को आबाधाकाल एवं कर्मोदय की जानकारी हो जाय तो पापमय परिणाम तथा पाप कार्य से अनुकूलता मिलती है, यह भ्रम टूट

जायेगा और पापमय जीवन को छोड़ने की सहज प्रेरणा मिलेगी।

२. कर्म सिद्धान्त को न जाननेवाला कोई परोपकारादि पुण्यमय कार्य करता रहता है। पूजा, परोपकार, व्यवहारप्रभावनादि कार्यों में जुड़ा रहता है; तथापि उसे पूर्वबद्ध पापकर्म का तीव्र उदय आने से प्रतिकूलता भी प्राप्त हो सकती है।

वह सोचता है – यह क्या हो गया, यह क्या हो रहा है? मेरा जीवन तो पुण्यमय है और मुझे इतनी प्रतिकूलताएँ तथा परेशानियाँ क्यों हैं? पुण्यमय परिणाम तथा सदाचारी जीवन से कुछ लाभ नहीं। दुनियाँ में पापी जीव ही पूजे जा रहे हैं। मुझे भी उनके समान ही पापरूप ही जीवन बिताना चाहिए।

अनेक मोक्षमार्गी श्रावक-साधुओं को भी परीषह और उपसर्ग उनके जानने-देखने में आते हैं। इस कारण उन अज्ञानी की सन्मार्ग के संबंध में श्रद्धा ड़गमगाने लगती है।

उस अज्ञानी को यदि यह पता चले कि **अभी जो पुण्यमय कार्य से पुण्यकर्म का बंध हो रहा है, इसका फल तो कुछ काल बाद अर्थात् कर्म का आबाधाकाल पूरा होने पर ही मिलेगा।**

मुझे जो प्रतिकूल संयोग प्राप्त हो रहे हैं, ये तो पूर्वबद्ध पापकर्म के फलस्वरूप है। मोक्षमार्ग में विशुद्धता से पापकर्म की उदीरणा होकर निर्जरा के लिए आ रहे हैं, जो कर्ज लिया था, वह समाप्त हो रहा है। इनसे मुझे प्रभावित नहीं होना चाहिए। मुझे धैर्य रखना चाहिए।

जिस कार्य का फल तत्काल आकुलता है और बाद में भी आकुलता ही है, उसे कर्म कहते हैं और जिस कार्य का फल तत्काल, निराकुलता है बाद में भी निराकुलता है उसे धर्म कहते हैं। ऐसी सच्ची समझ होने पर अज्ञानी जीव ज्ञानी होकर धर्मात्मा होता है। इस तरह आबाधाकाल को जानने से लाभ ही लाभ है।

ज्ञानी जीव को भी अपनी कमजोरी से अर्थात् विद्यमान पुरुषार्थ की कमी से अथवा जीवन में विद्यमान कषाय के अनुसार विपरीत परिस्थिति में यथायोग्य दुःख भी होता है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों में तद्भव मोक्षगामी सनत्कुमार चक्रवर्ती, बलभद्र रामचन्द्र आदि जीवों की दुःखद अवस्था जानने को मिलती है।

अनेक भावलिंगी मुनिराजों को भी पापोदय से उपसर्ग देखे जाते हैं, यह भी शास्त्राधार से जानते हैं। इन ज्ञानी मोक्षमार्ग के साधकों को भी कर्म के आबाधाकाल का ज्ञान अपनी भूमिका अनुसार होनेवाली आकुलता का अभाव करने के लिए अथवा आकुलता कम करने के लिए उपयोगी तो होता ही है। कर्मसंबंधी वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से तो जीव मात्र को लाभ ही लाभ होता है।

१२. प्रश्न :– बंधकरण के प्रश्नोत्तर में एक वाक्य है – ''बंध अवस्था को प्राप्त कर्म, (तत्काल) फल नहीं दे सकता;'' इसका भाव क्या है? कर्म, बंधते ही फल क्यों नहीं देता? स्पष्ट करें।

उत्तर :– जिस कर्म का बंध अभी हुआ है – हो रहा है; वह कर्म उसी समय फल नहीं दे सकता।

जिसप्रकार बीज बोते ही वह बीज वृक्षरूप से परिणमित नहीं होता और फल भी नहीं देता। बीज बोना और फल मिलना - इनमें जैसा काल-भेद आवश्यक है, उसी प्रकार – **१.** पहले कर्म का बंध होता है। **२.** कर्म बंधते समय में ही अथवा अगले समय से उस कर्म को सत्त्व नाम प्राप्त होता है। **३.** जब सत्ता में स्थित कर्म का आबाधा काल व्यतीत होकर कर्म का उदयकाल आयेगा तो ही **कर्म जीव से अलग होते समय** अर्थात् उदय के समय में ही जीव को फल देता है।

अति संक्षेप में कहें तो कर्म के फल देने की व्यवस्था का यह क्रम है।

यदि (आप यह चाहते हो कि) कर्म का बंध होते ही उसका फल मिलने लगे तो अनेक आपत्तियाँ आयेंगी –

१. जो व्यवस्थित व्यवस्था है, वह भंग होगी।

२. जिस समय नया कर्म का बंध हो रहा है, उसी समय नया कर्म फल देगा तो जिस कर्म का क्रम से स्वयमेव फल देने का उदयकाल आया है, उसका क्या होगा? वह फल दिए बिना कैसे रहेगा?

३. बंध में तथा उदय में आने वाले कर्मों में क्या टकराव होगा? क्योंकि दोनों का समय एक ही होने से कौन कितना और कैसा फल दे सकेगा? इसलिए व्यवस्थित व्यवस्था को स्वीकारने में ही समझदारी है।

जैसे कोई भी जीव मनुष्यरूप से जन्म लेता है तो कम से कम एक अंतर्मुहूर्त तो (माँ के पेट में ही सही) जीवित तो रहेगा ही। आप जन्म का और मरण का समय एक ही मानोगे तो नहीं चलेगा। जिस समय में जो जन्मेगा, वह उसी समय कैसे मरेगा? कर्म के बंध का अर्थ है - कर्म का जन्म होना है और कर्म के उदय का अर्थ है - कर्म का मरना।

कर्म बंधते समय ही हठपूर्वक कर्म का उदय मानने का प्रसंग आयेगा तो यह विषय आगम सम्मत नहीं है।

४. कर्म की आबाधा का अभाव मानना अनिवार्य हो जायेगा।

५. कर्म बंध के साथ कर्म की सत्ता (सत्त्व) बनती है, वह भी नहीं बनेगी। इसका अर्थ कर्म की सत्ता के अभाव की भी आपत्ति आयेगी।

६. उदय तो सत्ता समाप्त होने पर होता है। यदि कर्म की सत्ता ही नहीं रही तो उदय कहाँ से आयेगा? कैसे आयेगा?

७. उदय ही नहीं आयेगा तो उदय के माध्यम से होनेवाली कर्म की उदीरणा कैसी होगी?

८. यदि कर्म की सत्ता नहीं मानोगे तो कर्म का उत्कर्षण (कर्म की स्थिति और अनुभाग बढ़ने का कार्य) कैसे होगा?

९. यदि सत्ता का स्वीकार न हो तो कर्म की अपकर्षणरूप (कर्म की स्थिति-अनुभाग घटनेरूप कार्य) अवस्था कैसी होगी?

१०. कर्मबंध के बाद भी कर्म की सत्ता नहीं मानोगे तो संक्रमण (कर्मों के उत्तर प्रकृतियों में बदलनेरूप कार्य, जिसे संक्रमण कहते हैं) कैसे होगा?

११. कर्म बंधने के समय में ही उस कर्म का उदय मानोगे तो सत्ता ही नहीं रहेगी तो उदय-उदीरणा न होकर कर्म सत्ता में दबे रहनेरूप उपशांत करण भी कैसे होगा?

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कर्म, बंध अवस्था में फल नहीं दे सकता। बंध अवस्था में कर्म का मात्र बंध ही होता है। **उसी समय से कर्म की सत्ता होती है।** तदनंतर आबाधाकाल के बाद कर्म का उदय आयेगा।

कर्म की दस अवस्थाओं में से सामान्य मनुष्य को सामान्यस्वरूप से कम से कम तीन को अर्थात् बंध, सत्ता एवं उदय अवस्थाओं को तो सूक्ष्मता से जानना ही चाहिए तथा दस करणों को मानना ही चाहिए। इसलिए बंध अवस्था में स्थित कर्म, बंध के समय/अवस्था में ही फल देनेरूप कार्य नहीं कर पायेगा।

१३. प्रश्न :- यदि बंधकरण को नही मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी?

उत्तर :- १. संसार में विचरने वाले मनुष्य क्रोधादि कषायों अथवा हास्यादि नोकषायों से परिणत होते हुए देखने में आ रहे हैं। प्रत्येक समझदार मनुष्य भी इन विकारों का हीनाधिकरूप से अनुभव कर ही रहा है। इतना ही नहीं गाय, बैल, भैंसा इत्यादि पंचेन्द्रिय बलवान तिर्यञ्च कषायादि विकारों से परिणत होते हुए देखने में आ रहे हैं। यदि

दुनियाँ में छोटे-बड़े अनेक जीव विकाररूप से परिणत होते हुए देखने में आ रहे हैं तो इसका कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए।

कारण दो तरह के होते हैं। (1) बहिरंग कारण (2) अंतरंग कारण। क्रोधादि के बहिरंग कारण बाह्य अप्रिय वस्तुए हैं। जैसे - शत्रु इत्यादि क्रोधादि कषायों के बाह्य कारण समान होने पर भी सभी को समान रूप से क्रोधादि नहीं होते। अतः इसका कोई अंतरंग कारण भी होना ही चाहिए और वह है, कर्मबंध का उदय।

इस अनुमान ज्ञान से भी बंधकरण का अनुमान हो सकता है। अतः बंधकरण को नहीं मानने का अर्थ अनुमानरूप प्रमाण ज्ञान को नहीं मानने का प्रसंग आयेगा अर्थात् हमें ज्ञान के निषेध करने का दोष लगेगा।

२. दूसरी बात यह भी है कि अनंत सर्वज्ञ भगवंतों ने बंधकरण को कहा ही है, उसका निषेध करने का अर्थ सच्चे देव के कथन का निषेध करना है।

३. तीसरी बात आज सर्वज्ञ कथित तत्त्व शास्त्रों में विद्यमान है, और शास्त्रों में बंधकरण का वर्णन सत्यमहाव्रती मुनिराजों ने किया है। यदि हम बंधकरण को नहीं मानेंगे तो सच्चे शास्त्र एवं गुरु की भी हमारी यथार्थ मान्यता नहीं रहेगी।

४. दस करणों में बंधकरण प्रथम क्रमांक का करण है, यदि इसे अर्थात् बंधकरण को न माना जाय तो आगे के नौ करणों के मानने में बहुत बड़ी बाधा आयेगी। इसलिए नौ करणों के मूलभूत विषयरूप बंधकरण को तो विज्ञजन मानेंगे ही मानेंगे।

अतः इस बंधकरण को सभी को मानना ही चाहिए।

●

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब बंधकरण के विषय को समझने के लिए यहाँ पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका शास्त्र के चूलिका अधिकार के विशेष उपयोगी अंश को दिया जा रहा है।

अर्वाचीन हिन्दी साहित्य में मात्र पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल का यह चूलिका अधिकार ही दसकरण समझने में अतिशय अनुकूल एवं विषय को विशदरूप से समझने में उपयोगी है। पाठक स्वयमेव इस विभाग की अपनी-अपनी स्वतंत्र उपयोगिता समझ लेंगे, ऐसी आशा है। आगे का अंश भावदीपिका का है -

''१. प्रथम कर्म की बंधकरण अवस्था कहते हैं -

नवीन कर्म परमाणुओं का जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाह संबंध होना, उसे **बंध** कहते हैं। **वह बंध चार प्रकार का है** - प्रदेशबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध।

जो सिद्धराशि के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणे प्रमाण मात्र ऐसे कर्मरूप होने योग्य पुद्गल परमाणुओं का समय-समय ग्रहण होता है, उसे **समयप्रबद्ध** कहते हैं। उसका ग्रहण होकर आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध होना, उसे **प्रदेशबंध** कहते हैं।

जो पुद्गल कर्म परमाणु ज्ञानावरणादि मूल-उत्तर प्रकृतिरूप परिणमते हैं, उसे **प्रकृतिबंध** कहते हैं।

जो अपनी-अपनी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थिति लिये हुए ठहरते हैं/रहते हैं, उसे **स्थितिबंध** कहते हैं।

जो अपने-अपने कार्यरूप रस देने की शक्ति का जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अविभाग अर्थात् अंश का उत्पन्न होना, उसे **अनुभागबंध** कहते हैं। इसप्रकार चार प्रकार से बंध का स्वरूप जानना।

उनमें प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध योगों से होता है।

नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए मन, वचन, काय की चेष्टा का निमित्त पाकर आत्मा के प्रदेशों का चंचल/कम्पन होना, उससे आत्मा में कर्म ग्रहण करने की शक्ति होती है, उसका नाम **योग** है।

उससे पौद्गलिक कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है, उसे **प्रदेशबंध** कहते हैं।

उन मन, वचन, काय की चेष्टा शुभाशुभ प्रवृत्ति रूप से दो प्रकार की है, वह आत्मा के शुभाशुभ भावों से होती है।

जब आत्मा शुभ लेश्यादि बाईस[१] शुभभावों रूप परिणमता है, तब मन-वचन-काय द्वारा जो शुभकार्यरूप प्रवृत्ति होती है, उसका नाम **शुभयोग** है।

जब अशुभ लेश्यादि उन्नीस[२] अशुभ भावोंरूप परिणमता है, तब वहाँ मन-वचन-काय की अशुभ कार्यरूप प्रवृत्ति हो, उसका नाम **अशुभयोग** है।

जब **शुभयोग होने** से शुभकर्म परमाणुओं का बंध होता है; तब शुभरूप सातावेदनीय आदि कर्म प्रकृतियों का ही बंध होता है।

जब **अशुभयोग होने से** अशुभ कर्मपरमाणुओं का बंध होता है तब अशुभरूप असातावेदनीय आदि कर्म प्रकृतियों का बंध होता है।

स्थितिबंध, अनुभागबंध **कषाय** से होता है। इसलिए आत्मा के

१. (मनुष्यगति, देवगति, पीत, पद्म, शुक्ल (५) + मतिश्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान = (४) + दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य = ५ + क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, देशसंयम, क्षायोपशमिक चारित्र, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन = ६ + औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र = + २ = **२२ शुभभाव**।)

२. (नरकगति, तिर्यंच गति = (२) + क्रोध, मान, माया, लोभ = (८) + स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद = (३) + मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम = असिद्धत्व = (४) + कृष्ण, नील, कापोत लेश्या = (३) + कुमति, कुश्रुति, विभंगावधि = **१९ अशुभभाव**।)

शुभाशुभ भावों के अनुसार ही कषायों की तीव्र-मंद प्रवृत्ति होती है।

जब आत्मा **शुभलेश्यादि शुभभावोंरूप परिणमता है, तब कषाय मंदरूप होकर प्रवर्तती है;** तब सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध बहुत होता है तथा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म की और असातावेदनीय आदि अघातिया कर्म की पापप्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध अल्प होता है।

जब आत्मा अशुभलेश्यादि अशुभभावोंरूप परिणमता है और वहाँ तीव्र कषाय रूप प्रवर्तता है; तब ज्ञानावरणादि चार घातिया की और असातावेदनीय आदि अघातिया की पाप प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध बहुत होता है और सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध अल्प होता है।

जैसा-जैसा उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अनुभाग को लिये हुए शुभाशुभ भावोंरूप आत्मा परिणमता है, उसी के अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य स्थिति-अनुभाग को लिये हुए शुभाशुभ कर्मबंध होता है।

जब आत्मा निःकषाय भावरूप होता है, तब स्थितिबंध-अनुभागबंध का अभाव हो जाता है।

जब आत्मा योग रहित होकर प्रवर्तता है, तब प्रदेशबंध-प्रकृतिबंध का भी अभाव हो जाता है।

आत्मा के जिन-जिन भावों का निमित्त पाकर, जिस-जिस कर्म का बंध होता है, वहाँ उन-उन भावों का अभाव होने से उस-उस कर्म के बंध का भी अभाव हो जाता है।

इसलिए कर्मबंध के कारण आत्मा के भाव ही जानना।''

●

आगम-आधारित प्रश्नोत्तर

1. प्रश्न :- बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- आत्मा के साथ नवीन कर्म पुद्गलों के बंधने को बन्ध कहते हैं।

2. प्रश्न :- बन्ध के कितने भेद हैं?

उत्तर :- बन्ध के चार भेद होते हैं - प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध।

3. प्रश्न :- प्रकृतिबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- कर्मरूप होने योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतिरूप और उनके (भेद) उत्तर प्रकृतिरूप परिणमन होने का नाम **प्रकृतिबन्ध** है।

4. प्रश्न :- प्रदेशबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- प्रति समय एक जीव के साथ जितने पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमन करते हैं, उनके प्रमाण को **प्रदेशबन्ध** कहते हैं।

5. प्रश्न :- एक समय में एक जीव के कितने कर्मपरमाणु बँधते हैं?

उत्तर :- प्रति समय एक जीव के एक **समयप्रबद्ध** प्रमाण कर्म परमाणुओं का बन्ध होता है।

6. प्रश्न :- समयप्रबद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- एक समय में जितने कर्म-परमाणु जीव के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से बंधते हैं; उसे **समयप्रबद्ध** कहते हैं।

7. प्रश्न :- समयप्रबद्ध के विभाग का क्या अनुपात है?

उत्तर :- एक समय में ग्रहण किये गये पुद्गल परमाणु यथायोग्य मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिरूप परिणमन करते हैं; वही कहते हैं -

8. प्रश्न :- क्या प्रतिसमय आयुकर्म का बंध होता है?

उत्तर : नहीं, आयु कर्म का बंध प्रतिसमय नहीं होता। आयु कर्म के बंध सं संबंधित चर्चा विस्तारपूर्वक आगे दी गई है; वहाँ से जानना।

☞ समयप्रबद्ध का सबसे **कम भाग आयु कर्मरूप** परिणमन करता है।

☞ आयु से अधिक भाग दो भागों में समान रूप से विभाजित होकर **नामकर्म और गोत्रकर्मरूप** परिणमन करता है।

☞ नाम, गोत्र कर्मों के भाग से अधिक भाग तीन भागों में बराबर-बराबर विभाजित होकर **ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय** कर्मरूप परिणमन करता है।

☞ इन तीनों कर्मों को मिलने वाले भाग से भी अधिक भाग **मोहनीय** कर्मरूप परिणमन करता है।

☞ मोहनीय से भी अधिक भाग **वेदनीय कर्म** को मिलता है।[१]

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।
घादितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये।।१९२।।

अर्थ - सर्व मूलप्रकृतियों में आयुकर्म का भाग अर्थात् हिस्सा सबसे थोड़ा है। नामकर्म और गोत्रकर्म दोनों का भाग परस्पर समान है; तथापि आयुकर्म के भाग से अधिक है। अंतराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण इन तीनों का भाग परस्पर समान है; तथापि नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे मोहनीय का भाग अधिक है। **इससे तीसरा कर्म-वेदनीय, उसका भाग अधिक है।**

यदि एक समय में किसी जीव को आठों कर्मों का प्रदेशबंध होता है तो उस समय समयप्रबद्ध कर्म परमाणुओं का कैसा विभाजन होता है, उसका नीचे चार्ट के द्वारा ज्ञान कराया है।

इस चार्ट का खुलासा इसप्रकार है -

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा १९२

	वेदनीय कर्म	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अन्तराय	नामकर्म	गोत्रकर्म	आयुकर्म
समान भाग	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०
एक भाग	+५७६०	+१४४०	+१२०	+१२०	+१२०	+४५	+ ४५	+ ३०
कुल	८६४०	४३२०	३०००	३०००	३०००	२९२५	२९२५	२९१०

स्थूलरूप से दृष्टान्त के द्वारा एक समय में आठों कर्मों के विभाजन (अधिक से हीन की ओर) का आगे ज्ञान कराने का प्रयास किया है -

समयप्रबद्ध का प्रमाण ३०७२० कर्मपरमाणु माना गया है। आवली का प्रमाण (४) माना है। ३०७२० समयप्रबद्ध द्रव्य को आवली प्रमाण ४ से भाग दिया तो ७६८० एक भाग मूल द्रव्य आ गया। ३०७२० प्रमाण समय प्रबद्ध में से ७६८० मूल द्रव्य को कम किया तो २३०४० यह बहुभाग द्रव्य आता है। इस २३०४० प्रमाण द्रव्य को आठों कर्मों में विभाजित करते हैं। २३०४० को ८ का भाग देने से = २८८० परमाणु ज्ञानावरणादि प्रत्येक कर्मों को प्राप्त होते हैं।

७६८० यह एक भाग द्रव्य आया था। उसे ४ से विभाजित किया। ७६८० भाग ४ = १९२० एक भाग आया। मूलद्रव्य ७६८० में से एक भाग १९२० कम किया तो ५७६० बहुभाग आया, उसे वेदनीय को दिया। १९२० को चार में विभाजित किया। १९२० भाग ४ = ४८०। ४८० को कम किया। १९२०-४८० = १४४० जो बहुभाग आया, उसे मोहनीय को दिया। १९२० के ४ समान भाग किये। १९२० भाग ४ = ४८०। ४८० के चार समान भाग किये। ४८० भाग ४ = १२० एक भाग। ४८०-१२० कम किये = ३६० बहुभाग आया।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय - प्रत्येक को ३६० भाग ३ = १२० प्रत्येक को दिया। शेष १२० भाग ४ = ३० समान भाग किये। उस ३० को १२० में से कम किए तो ९० आया। ९० को २ से

विभाजित किया। ४५, ४५ आया। इन ४५, ४५ को नाम और गोत्र को दिया। शेष एक भाग ३० को आयु कर्म को दिये।

वेदनीयकर्म सुख-दुख का कारण है, इसलिए सुख दुख होते हुये इसकी निर्जरा बहुत होती है। इसकारण अन्य मूलप्रकृतियों के भागरूप द्रव्य प्रमाण से वेदनीय का द्रव्य अधिक है, ऐसा परमागम में कहा है।[1]

वेदनीय को छोड़कर शेष सब मूलप्रकृतियों के स्थिति प्रतिभाग से द्रव्य का बँटवारा होता है।

- **जिस कर्म की स्थिति बहुत है, उसका द्रव्य अधिक है**
- **जिसकी स्थिति परस्पर समान है उसका द्रव्य परस्पर समान जानना।**

जिसकी स्थिति हीन है उसका द्रव्य थोड़ा जानना।[2]

☞ आयु, गोत्र और वेदनीय को छोड़कर शेष पाँच कर्मों को जो भाग मिलता है, वह उनकी उत्तर प्रकृतियों (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय २८, नाम ९३, अन्तराय ५) में यथायोग्य विभाजित हो जाता है।

9. प्रश्न :- स्थितिबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- कर्मरूप परिणत हुए कार्माण स्कन्धों में आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं।

10. प्रश्न :- कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

☞ **उत्तर :-** पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, पाँच अन्तराय और दो वेदनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ दर्शन मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ चारित्रमोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिबंध चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

१. पंचसंग्रह पृष्ठ- ७८, पृष्ठ-४९ २.-गो. क. ९३, ३. धवला ८/७८

☞ नाम और गोत्रकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **तैतीस सागरोपम** प्रमाण है।

11. प्रश्न :- मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

☞ **उत्तर :-** मिथ्यात्वकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ पुरुषवेद, हास्य और रति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

☞ स्त्रीवेद का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण है।

12. प्रश्न :- नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

☞ **उत्तर :-** मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी का **पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** है।

☞ देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभ नाराच संहनन, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति का **दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण** है।

☞ नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-वैक्रियिक-तैजस कार्मण शरीर, औदारिक और वैक्रियिक अंगोपांग, हुण्डक संस्थान,

असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उछ्वास, आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण कर्म का **बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** है।

☞ दोइन्द्रिय-तीनइन्द्रिय-चारइन्द्रिय जाति, वामन संस्थान, कीलक संहनन, सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण नामकर्म का **अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** है।

☞ आहारक शरीर, आहारकशरीर अंगोपांग और तीर्थङ्कर प्रकृति-नाम कर्म का **अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम** है।

☞ न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और वज्रनाराच संहनन का **बारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** है।

☞ स्वाति संस्थान और नाराच संहनन का **चौदह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** है।

☞ स्वाति संस्थान और अर्द्धनाराच संहनन का **सोलह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

13. प्रश्न :- वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

उत्तर :- असाता वेदनीय का **तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण और साता वेदनीय का **पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

14. प्रश्न :- आयु कर्म के भेदों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

उत्तर :- नरकायु और देवायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध **तैतीस सागरोपम** और मनुष्य तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध **तीन पल्योपम** होता है।

15. प्रश्न :- गोत्रकर्म के भेदों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

☞ **उत्तर :-** उच्च गोत्र का **दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** और **नीच गोत्र का बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम** प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

16. प्रश्न :- यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध किसे होता हैं?

उत्तर :- उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के ही होता है।

17. प्रश्न :- कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध कितना है?

☞ **उत्तर :-** (पाँच) ज्ञानावरण, (चार) दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और (पाँच) अन्तराय का **जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त** प्रमाण है।

☞ नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध **आठ मुहूर्त** प्रमाण है। वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध **बारह मुहूर्त** प्रमाण है।

18. प्रश्न :- यह जघन्य स्थितिबन्ध किनके पाया जाता है?

☞ **उत्तर :-** मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय नामक नौवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के पाया जाता है।

☞ आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यंचों के पाया जाता है।

☞ शेष कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के पाया जाता है।

19. प्रश्न :- एक समय में बंधे हुए सभी पुद्गल परमाणुओं की स्थिति क्या समान होती है?

☞ **उत्तर :-** नहीं, असमान ही होती है। प्रत्येक समय में उदय में आनेवाले प्रत्येक निषेक की स्थिति भिन्न-भिन्न ही होती है। उसका विवरण - एक समय में जो स्थितिबन्ध होता है, उसमें बन्ध समय से लेकर आबाधा काल पर्यन्त तो बन्धे हुए परमाणुओं का उदय ही नहीं होता।

☞ आबाधा काल बीतने पर प्रथम समय से लेकर बन्धी हुई स्थिति के

अन्तिम समय तक प्रत्येक समय में एक-एक निषेक का उदय आता है।

☞ अतः **प्रथम निषेक की स्थिति** एक समय अधिक आबाधाकाल मात्र होती है।

☞ **दूसरे निषेक की स्थिति** दो समय अधिक आबाधाकाल मात्र होती है।

☞ इसतरह क्रम से एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते अन्तिम निषेक से पहले (उपांत्य) निषेक की स्थिति एक समय कम स्थितिबन्ध प्रमाण है और अन्तिम निषेक की स्थिति सम्पूर्ण स्थितिबन्ध प्रमाण है।

☞ जैसे मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति बन्धी। उसमें से सात हजार वर्ष तो आबाधाकाल है। अतः प्रथम निषेक की स्थिति एक समय अधिक सात हजार वर्ष है।

☞ दूसरे, तीसरे आदि निषेकों की स्थिति क्रम से एक-एक समय बढ़ती हुई जाना तथा अन्तिम निषेक की स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर होती है।

20. प्रश्न :- आबाधाकाल किसे कहते हैं?

उत्तर :- कर्म का बन्ध होने के पश्चात् जब तक वह कर्म उदय अथवा उदीरणा अवस्था को प्राप्त नहीं होता, उतने काल को आबाधाकाल कहते हैं।

21. प्रश्न :- आबाधाकाल का क्या नियम है?

☞ **उत्तर :-** आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का आबाधाकाल **एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति में सौ वर्ष प्रमाण होती है।**

☞ अतः जिस कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है, उसका आबाधाकाल **सात हजार** वर्ष है।

☞ जिस कर्म की स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है, उसका आबाधाकाल **चार हजार** वर्ष है।

☞ जिसकी स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है उसका आबाधाकाल **तीन हजार** वर्ष है।

☞ इसी अनुपात से सब कर्मों की स्थिति में आबाधाकाल जानना।

☞ विशेष इतना कि जिस कर्म की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है उसका आबाधाकाल **अन्तर्मुहूर्त** होता है।

22. प्रश्न :- आयु कर्म के आबाधाकाल का क्या नियम है?

☞ **उत्तर :-** आयु कर्म के आबाधाकाल अन्य कर्मों की तरह स्थितिबन्ध के अनुसार नहीं होता है। इसलिए आयु के स्थितिबन्ध में आबाधाकाल नहीं गिना जाता; क्योंकि **आयु का आबाधाकाल पूर्व पर्याय में ही व्यतीत हो जाता है।**

☞ अतः आयु कर्म के प्रथम निषेक की स्थिति एक समय, दूसरे निषेक की स्थिति दो समय, इस तरह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अन्तिम निषेक की स्थिति सम्पूर्ण स्थितिबन्ध प्रमाण होती है।

23. प्रश्न :- अपकर्षकाल किसे कहते हैं?

☞ **उत्तर :-** वर्तमान आयु को अपकृष्य अर्थात् घटाकर आगामी परभव की आयु जिस काल में बंधे, उस काल को **अपकर्षकाल कहते हैं।**

☞ **जैसे** - किसी कर्मभूमिया मनुष्य की आयु इक्यासी वर्ष है। उस आयु के दो भाग अर्थात् चौवन वर्ष बीतने पर (जब सत्ताईस वर्ष की आयु शेष रहती है) तब तीसरे भाग के **प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रथम अपकर्षकाल होता है। (उसमें परभव की आयु का बन्ध हो सकता है।)**

☞ यदि उस प्रथम अपकर्षकाल में आयु का बंध न हो पाये तो उर्वरित/शेष सत्ताईस वर्ष की आयु के भी दो भाग अर्थात् चौदह वर्ष बीतने के बाद जब **नौ वर्ष** की आयु शेष रहती है, तब नौ वर्ष का प्रथम अन्तमुहूर्त दूसरा अपकर्षकाल होता है।

☛ उसमें भी आयु न बँधे तो शेष आयु नौ वर्ष के दो भाग अर्थात् छह वर्ष बीतने के बाद **तीन वर्ष** की आयु शेष रहने पर तीसरा अपकर्ष काल होता है।

☛ उसमें भी न बँधे तो **एक वर्ष** आयु शेष रहने पर चौथा अपकर्षकाल होता है।

☛ भुज्यमान आयु के त्रिभाग-त्रिभाग में आठ अपकर्ष काल होते हैं।

☛ **आयुबंध के योग्य परिणाम (लेश्या का मध्यम अंश) इन अपकर्ष कालों में ही पाये जाते हैं।**

☛ ऐसा कोई नियम नहीं है कि इन अपकर्षकालों में आयु का बंध हो। बन्ध हो तो हो, न हो तो न भी हो। नहीं होने की ऐसी स्थिति में मरण के पहले एक अन्तर्मुहूर्तकाल में आयु का बंध नियम से होता है।

☛ आयुबंध एक बार ही होता है ऐसा नहीं है। वह किसी भी अपकर्ष काल में होता है। पहले अपकर्षकाल में बंधी हुई आयु का ही अन्य अपकर्ष काल में बंध हो सकता है।

भगवती आराधना दूसरा अधिकार, पृ.२१६

24. प्रश्न :- अनुभागबन्ध किसे कहते हैं?

☛ उत्तर :- जैसे पात्र (बर्तन) आदि के निमित्त से पुष्प आदि मदिरा रूप हो जाते हैं, उनमें ऐसी शक्ति होती है कि उनको पीने से पुरुष को (थोड़ा या बहुत) नशा चढ़ता है।

☛ वैसे ही रागादि के निमित्त से जो पुद्गल कर्मरूप होते हैं उनमें ऐसी शक्ति पायी जाती है कि जिससे उदयकाल आने पर वे जीव के ज्ञानादि गुणों का थोड़ा या बहुत घात करने में निमित्त होते हैं।

☛ **बन्ध होते समय कर्म में उक्त प्रकार की फलदान शक्ति का होना ही अनुभाग-बन्ध है।**

25. प्रश्न :- कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?

☛ **उत्तर :-** पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय, छब्बीस मोहनीय, चार आयु, सड़सठ नाम, दो गोत्र और पाँच अन्तराय ये सब एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्ध योग्य हैं।

विशेष इतना कि मोहनीय कर्म की सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, केवल उदय और सत्त्व होता है।

बंध-सत्त्व एवं उदय प्रकृतियों के विषय में पण्डित द्यानतरायजी का निम्न छंद प्रसिद्ध है -

बंध एक सौ बीस, उदय सौ बाइस आवैं।
सत्ता सौ अड़ताल, पाप की सौ कहलावैं।।
पुन्यप्रकृति अड़सट्ठ, अठत्तर जीवविपाकी।
बासठ देह-विपाकि, खेत भव चउ चउ बाकी।।
इकईस सरबघाती प्रकृति, देशघाति छब्बीस हैं।
बाकी अघाती इक अधिकसत, भिन्न सिद्ध सिवईस हैं।।२८।।

☛ तथा नामकर्म की ९३ प्रकृतियों में से **पाँच बन्धन और पाँच संघात शरीर नामकर्म की साथ अविनाभावी हैं। इसलिये बन्ध और उदय अवस्था में इन दसों का अन्तर्भाव शरीर नामकर्म में ही कर लिया जाता है।**

☛ इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के २० उत्तर भेदों को उन्हीं चार वर्णादि में गर्भित करके बन्ध और उदय अवस्था में केवल चार का ही ग्रहण किया जाता है।

इसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति २ + ५ बंधन + ५ संघात + स्पर्शादि की पर्यायें १६ = २८ को घटाने पर बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० होती हैं।

26. प्रश्न : बंधकरण का पारिभाषिक स्वरूप क्या है?

१. जीव, कषाय सहित होने पर कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है; वह कर्म योग्य पुद्गलों का ग्रहण **बंध** है।

२. जीव और कर्म की एकरूपता अर्थात् एकीभाव बंध कहलाता है। **(धवला १३/३४८)**

३. मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों से **जीव और कर्म का जो एकत्वरूप परिणाम होता है, वह बंध है।** (धवला ८/२)

उदाहरण - पिघलाए हुए सोना और चाँदी की एकरूपता।
यह बंध एक लकड़ी का अन्य लकड़ी से परस्पर संयोग जैसा नहीं है और वह आत्मा और उसका ज्ञान – ऐसा तादात्म्य संबंध जैसा भी नहीं। मात्र एकक्षेत्रावगाह रूप संयोग संबंध है।

27. प्रश्न : नामकर्म की प्रकृतियाँ ९३ बताई हैं, बन्धयोग्य ६७ ही कैसे हैं?

४. ''पुरुषों के लिए कर्मबंध करनेवाला न तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलन स्वरूप कर्म अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया है, न अनेकप्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है; किन्तु आत्मा में रागादि के साथ होनेवाली एकत्वबुद्धि ही एकमात्र बंध का वास्तविक कारण है।''[१]

28. प्रश्न : बंध के संबंध में सामान्यरूप से विशेषताएँ बताइए।

१. नवीन बंधनेवाला कर्म बंधते समय मिट्टी के ढेले के समान है; वह न संयोग में निमित्त है न विकार में निमित्त है। **समयसार गाथा-१६६**

२. **कर्म का जैसा, जितना बंध हो गया है, वह वैसा व उतना फल देगा ही -ऐसा निश्चित नहीं है;** क्योंकि बंधा हुआ कर्म जीव के नये-नये परिणामों के निमित्त मिलने पर उदय में आने के पहले ही अन्य रूप में रूपान्तरित हो बदल सकता है। इसलिए पूर्वकृत पापकर्म से चिंतित व दुःखी होना व्यर्थ है। यह सिद्धान्त जीवों को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

३. पूर्वबद्ध तीव्र पाप फल देनेवाला कर्म बदलकर हीन फलदेनेवाला हो सकता है अथवा पाप पुण्य में भी परिवर्तित हो सकता है।

29. प्रश्न : विभिन्न अपेक्षाओं से बंध के कितने भेद हैं?

१. जीव और कर्मों का अन्योन्य संश्लेषरूप बंध, बंध सामान्य की अपेक्षा **एक** ही प्रकार का है। **(त. राजवार्तिक १/७/१४)**

२. शुभ एवं अशुभ कर्मबंध की अपेक्षा बंध **दो** प्रकार का है।

१. समयसार कलश १६४

३. द्रव्यबंध, भावबंध और उभयबंध की अपेक्षा **तीन** प्रकार का है। **(प्रवचनसार गाथा-१७७)**

४. नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों की अपेक्षा **बंध चार** प्रकार का है।

५. प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग बंध की अपेक्षा से भी **बंध चार** प्रकार का है।

६. मिथ्यादर्शनादि कारण-भेद की अपेक्षा से **बंध पाँच** प्रकार का है।

७. नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से **बंध छह** प्रकार का है।

८. ज्ञानावरणादि मूल कर्म प्रकृति की अपेक्षा से **बंध आठ** प्रकार का है।

९. **बंधयोग्य प्रकृति** 120 प्रकार की है। अथवा भेद की अपेक्षा से **बंध** 146 प्रकार का है। **(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ३७)**

१०. सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति का बंध नहीं होता।

30. प्रश्न : बंध का सामान्य ज्ञान कराइए ?

१. सातावेदनीय के बंध के काल में असाता वेदनीय का बंध नहीं होता।

२. रति के बंध के समय में अरतिरूप नोकषाय का बंध नहीं होता।

३. हास्य नोकषाय के बंध के समय में शोक का बंध नहीं होता।

इसप्रकार की अनेक प्रकृतियाँ है। जैसे त्रस का बंध हो रहा हो तो स्थावर का बंध नहीं होता, एकेन्द्रिय का बंध नहीं होता। पुरुषवेद के बंध के समय में स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का बंध नहीं होता।

४. जब तक बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं होती, तब तक **निरन्तर बँधने वाली प्रकृति ध्रुवबन्धी कहलाती है।** **(गो. क. १२४)**

५. १२० बंधयोग्य प्रकृतियों में अज्ञानी अथवा अभव्यों को घातिकर्म की **47 प्रकृतियाँ निरंतर बंधती ही रहती हैं; उन्हें ध्रुवबंधी कहते हैं।**

६. ध्रुवबंधी प्रकृतियाँ निम्नानुसार - ज्ञानावरण-५, दर्शनावरण की ९, मिथ्यात्व-१, चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी आदि १६ कषाय, नोकषाय में से भय, जुगुप्सा-२, नामकर्म में से -

तैजस, कार्माण, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अंतराय।[१]

७. प्रकृतिबंध आदि चारों प्रकार का बंध एक साथ होता है।

८. चारों प्रकार के बंध में अनुभाग बंध प्रधान है; क्योंकि वह जीव को फल देने में प्रधान कारण है।

31. प्रश्न : गुणस्थान के अनुसार बंधकरण को स्पष्ट करे –

१. मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान को छोड़कर पहले गुणस्थान से **सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यंत के सभी जीव** सात मूल प्रकृतियों को या आयुकर्म सहित आठ कर्मों को निरन्तर बाँधते हैं।

२. **अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारक मुनिराज आयु कर्म के** बिना सात कर्मों को निरन्तर बाँधते हैं।

३. **सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव** मोह एवं आयु को छोड़कर छह कर्मों को निरन्तर बाँधते हैं।

४. **उपशांत मोही, क्षीणमोही एवं सयोग केवली जिन** केवल एक सातावेदनीय को निरन्तर बांधते हैं।

५. **अयोगी जिन** किसी भी कर्म को नहीं बांधते।

३२. प्रश्न : बंध के संबंध में क्या विशेषताएँ हैं?

१. तीर्थंकर प्रकृति का बंध **चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठें भाग तक** होता है; अन्य गुणस्थान में नहीं।[१]

२. तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ **कर्मभूमिज मनुष्य के ही होता** है।[२]

३. तीर्थंकर प्रकृति को **तिर्यंच जीव कभी भी नहीं बांधता।**

४. जिनके तीर्थंकर प्रकृति का **उदय है, उनको तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता।**

५. **आठवें से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में** आयुकर्म का बंध नहीं होता।

१. पंचसंग्रह पृष्ठ–७८, पृष्ठ–४९

२. गो. क. ९३ २. धवला ८/७८ धवला ८, पृष्ठ–३७७

६. **सकल उपशमसम्यक्त्वी** जीव आयुकर्म का बंध नहीं करते।[३]

७. **अविरत सम्यक्त्वी मनुष्य व तिर्यंच** देवायु को छोड़कर अन्य आयु को नहीं बाँधते।

८. **अविरत (सम्यक्त्वी) देव-नारकी** मनुष्यायु को ही बांधते है।

९. मनुष्य आयु के बंध के समय गतिबंध भी मनुष्यगति का ही होता है। इसीतरह अन्य तीन आयु के संबंध में भी जानना।

१०. **देवायु का बंध और उदय एकसाथ नहीं होता। (धवला ८/१२६)**

११. मिथ्यात्व, सासादन एवं अविरत गुणस्थानवर्ती जीव मनुष्यायु को बांध सकते हैं। (यह सामान्य कथन है। विशेष के लिए उपरिम ७वाँ बिन्दू देखें। **(धवला ८/१८६)**

१२. **देवायु का बंध अप्रमत्त गुणस्थान पर्यंत होता है।(ध. ८, पृष्ठ ३५३)**

१३. **नरकायु का बंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।**

१४. तिर्यंच आयु का बंध मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यक्त्वी भी करता है।

१५. सामान्य रूप से **मनुष्य-तिर्यंच जीव** चारों आयु का बंध कर सकते हैं।

१६. **देव-नारकी जीव** मनुष्य व तिर्यंच आयु को बाँधते हैं।

१७. आहारक चतुष्टय का बंध **मात्र सातवें-आठवें गुणस्थान** में होता है।

१८. तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और प्रवचन – इनके प्रति अनुराग तथा प्रमाद का अभावरूप भाव आहारक चतुष्टय के बंध के कारण हैं। इसीलिए सभी संयमी इसका बंध नहीं कर सकते।

(ध. ८/७२)

१९. **उच्चगोत्र का बंध** मनुष्यगति और देवगति के समय ही होता है।

२०. नरकगति और तिर्यंचगति को बांधनेवाले **नीच गोत्र को ही** बांधते हैं।

२१. **भोगभूमिज जीव** उच्च गोत्र को ही बांधते हैं। **(धवला ८/१९)**

२२. यशःकीर्ति, नरकगति के बिना अन्य तीन गति के साथ बंधती है।

२३. जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक नवीन मिथ्यात्व कर्म का बंध होता है। **मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व कर्म का बंध नहीं होता।**

२४. दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ का उदय है, सूक्ष्मलोभरूप परिणाम है; तथापि **नया सूक्ष्मलोभ का बंध नहीं होता।** ज्ञानावरणादि तीन घातिकर्मों का बंध होता है।

२५. **देव,** देवायु एवं नरकायु का बंध नहीं करते। नारकी, नरकायु व देवायु का बन्ध नहीं करते।

२६. साता के उदय में असाता का एवं असाता के उदय में साता वेदनीय कर्म का बंध संभव है; क्योंकि ये दोनों प्रतिपक्षी हैं।

२७. आनतादि देवों में मनुष्यगति का ही निरंतर बंध होता है; क्योंकि वे नियम से अगले भव में मनुष्य ही होते हैं। **(ध. ६ गत्यागति चूलिका)**

२८. ईशान स्वर्ग से लेकर नीचे के (भवनत्रिक) सकल देव एकेन्द्रिय जाति का भी बंध कर सकते हैं।

२९. तीसरे आदि स्वर्गों के देव पंचेन्द्रिय जाति का ही बंध करते हैं।

३०. बारहवें स्वर्ग तक के देव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच का बंध कर सकते हैं।

३१. बंध अवस्था को प्राप्त कर्म (उदय के बिना सत्ता में स्थित कर्म) फल नहीं देता।

३३. प्रश्न – जिनागम में बंधरूप करण का वर्णन अधिक क्यों है?

१. कर्म का **बंध होने के बाद ही** अन्य करणों की चर्चा शक्य है; इसलिए इस अपेक्षा से **कर्म का बंधकरण सभी करणों का मूल** है।

२. जिनागम में बंध का वर्णन बहुत हैं; क्योंकि संसारी जीव को **बंध अनादि से है।**

३. **खुद्दाबंध एवं बंध स्वामित्व विचय** - ये दो खण्ड, बंध की ही प्ररूपणा करते हैं।

अधिकार दूसरा

२ – सत्त्वकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर विभाग में जो विषय आयेगा, उसका विशद ज्ञान हो, इस अभिप्राय से हमने अनेक प्रश्नोत्तर के सहारे से सत्ताकरण की चर्चा करने का प्रयास किया है।

१. प्रश्न : सत्ता–सत्त्वकरण में स्थित कर्मों में भी जीव के परिणामों के निमित्त से परिवर्तन होता है; इससे हमें क्या बोध मिलता है?

उत्तर :– मुख्य बोध तो यही मिलता है कि कर्म का बंध हो जाने पर भी उसका फल उसी रूप में भोगना अनिवार्य नहीं; क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने के पहले ही सत्त्व में स्थित कर्म का अनुभाग व स्थिति हीनाधिक हो सकती है अथवा बदल भी सकती है। जैसे - पुण्य का पापरूप होना/मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरणरूप होना।

यदि ऐसी व्यवस्था नहीं होती तो मधुराजा जैसे लोगों ने अपने मनुष्य भव में अर्थात् राजा की अवस्था में, पर राजा की रानी का अपहरण करने जैसा अत्यन्त घृणित पाप कार्य किया था। वही राजा का जीव अपने भावी भव में मुनि बनकर सिद्ध भगवान कैसे हो सकता था? प्रथमानुयोग शास्त्र में ऐसे/ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

२. प्रश्न : किए हुए पाप का फल मिलना अनिवार्य नहीं रहेगा तो किए हुए पुण्यकर्म का फल भी नहीं मिलेगा? – किया हुआ पुण्य व्यर्थ चला जायेगा – तो क्या करें?

उत्तर :- अरे भाई! तुम्हें पाप-पुण्य से रहित होकर भगवान बनने की भावना है अथवा पुण्य का फल भोगने की दुर्वासना है।

पुण्य का फल भोगना भी आकुलतामय है; यह विषय आपको अभी तक समझ में नहीं आया हो तो तत्त्वाभ्यास करो।

अनादिकालीन संसार में अनंत बार ऐसे प्रसंग बने हैं, जिस कारण से किए हुए पुण्य का फल नहीं मिला। पुण्य कर्म उदय में आने के पहले ही पाप में परिवर्तित हो गया है। अतः पुण्य के फल भोगने की भावना उचित नहीं है।

३. प्रश्न : स्वयं किए हुए पाप कर्म का फल नहीं मिलता; ऐसा निर्णय होने से जीव स्वच्छंद तो नहीं होंगे?

उत्तर :- उपर्युक्त कर्म का स्वरूप जानने से ज्ञानी जीव कर्म का मात्र ज्ञाता होता है। अतः जगत की ओर देखने की दृष्टि ही बदल जाती है। इस कारण पात्र जीव को अनावश्यक शंका ही नहीं होती और जीव स्वच्छन्द भी नहीं होता।

भाई! आपको आत्मसन्मुख होने का परिणाम आवश्यक है। अनावश्यक विषयों में क्यों फंस रहे हो? वीतराग जिनधर्म के क्षेत्र में आने पर जीव को मात्र स्वकल्याण को ही मुख्य रखना चाहिए।

कदाचित् भूमिकानुसार दूसरे के कल्याण की भावना हो भी जाए तो भी उसको हेय जानकर-मानकर उसके प्रति उपेक्षा भाव ही चाहिए।

कर्म बलवान नहीं है, जीव ही बलवान है; ऐसा हमें पक्का निर्णय होना आवश्यक है; क्योंकि जीव के परिणाम के अनुसार कर्मों में हमेशा परिवर्तन होता ही रहता है।

४. प्रश्न :- 'सत्त्व स्वयं कभी फलरूप नहीं होता।' इसका अभिप्राय क्या है?

उत्तर :- सत्त्व स्वयं (उदय के बिना) कभी फलरूप नहीं होता; इसका अर्थ - जो सत्त्वकरण में पड़ा हुआ कर्म है, वह फल नहीं दे सकता। यदि जीव के साथ जिन कर्मों का अस्तित्व बना हुआ है, वे कर्म फल देंगे तो जीवन में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आयेंगी। जैसे -

१. तीर्थंकर प्रकृति की सत्तासहित असंख्यात जीव हमेशा ही देवगति में रहते हैं। यदि देवगति में तीर्थंकर प्रकृति का उदय आना प्रारंभ होगा तो असंयमी को तीर्थंकर मानना पड़ेगा। स्वर्ग के वैभव के साथ तीर्थंकर प्रकृति के उदय से प्राप्त समवशरण, दिव्यध्वनि का उपदेश, उनके भगवानपने का व्यवहार आदि कैसे हो पायेगा? इसलिए कर्म की सत्ता कभी उदयरूप कार्य नहीं करेगी।

२. नरकगति में असंख्यात नारकी जीवों को तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहती है। वहाँ सभी मारते-पीटते हैं। इसलिए वहाँ तीर्थंकर प्रकृति के उदय का कार्य सम्भव नहीं है।

३. जिस मनुष्य भव में जो जीव तीर्थंकर होनेवाले हैं, वे जब गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हैं तो उनके साथ सामान्य मनुष्य का तीर्थंकर जैसा व्यवहार कैसे होगा? वे समवशरण में विराजमान रहेंगे या गृहस्थ व्यवहार के कार्यों में? वे भोजनपानी, राज्य कारोबार करते रहेंगे तो उस समय तीर्थंकर प्रकृति का उदय कैसे सम्भव होगा?

सत्त्वरूप स्थिति का काल समाप्त होने के बाद ही अर्थात् कर्म का उदय काल आने पर जीव को कर्म का फल प्राप्त होता है।

४. तीर्थंकर भावलिंगी मुनि अवस्था को धारण करेंगे तो उनके साथ क्या मुनि जैसा व्यवहार रहेगा अथवा तीर्थंकर भगवान जैसा? अतः सत्त्वरूप कर्म का सत्त्वरूप अवस्था में ही उदय नहीं आयेगा।

५. वायुकायिक एवं तेजकायिक जैसी निकृष्ट तिर्यंच पर्याय में

आहारक-शरीर नामकर्म की सत्ता होने से उन एकेन्द्रिय जीवों को विदेहगमन का प्रसंग प्राप्त होगा।

६. सत्तारूप कर्म भी फल देते रहेंगे और उदयरूप कर्म तो फल देंगे ही तो जिसे फल मिलनेवाला है, उस जीव की अवस्था कैसी बनेगी? यह तो मात्र कल्पनागम्य ही है।

७. यदि सत्त्वरूप सर्व कर्म ने जीव को एक समय में ही सर्व फल दिया तो अगले समय में जीव आठों कर्मों से रहित हो जायेगा। इसलिए सत्तारूप कर्म सत्ता में ही रहते हुए कभी भी फल नहीं देगा।

कर्म की सत्ता तो कारण है और उदयकरण कार्य है। इसलिए उदयकरणरूप कर्म उदय का फल देगा, ऐसा जानना-मानना चाहिए। सत्त्वरूप कर्म उदयरूप नहीं हो सकता; क्योंकि जो कारण है, उसे कार्य नहीं कह सकते।

८. बंधकरण के चर्चात्मक प्रश्नोत्तर में 'बंध अवस्था को प्राप्त कर्म फल नहीं दे सकता' इसका विवेचन करते समय जो बताया है, उसे भी यहाँ समझ लेना उपयोगी होगा।

५. प्रश्न :– सत्त्वकरण को नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी?

उत्तर :– १. बंधकरण के कार्य को नहीं मानने की आपत्ति आयेगी। बंधकरण कारण है और सत्त्वकरण कार्य है। कार्य को न मानने से ज्ञान की समीचीनता में बाधा उत्पन्न होगी।

२. यदि सत्ता न हो तो उदयरूप करण का अभाव हो जायेगा। यदि कर्म की सत्ता न हो तो कर्म की सत्ता में से ही उदयरूप कार्य बनता है, वह कार्य नहीं हो सकेगा।

३. जिस कर्म का बंध होता है, उसका तत्काल फल जीव को मिलता नहीं। हजारों-लाखों अर्थात् अनेक जन्म के पहले किए हुए पुण्य-पाप का फल वर्तमान काल में जीव को मिलता है; यह विषय हम प्रथमानुयोग के शास्त्रों में पढ़ते हैं। इसका अर्थ पुण्य-पापरूप कर्म

करने का काल अलग और उसका फल मिलने का काल अलग है।

पुण्य-पाप करते समय कर्म का बंध होता है और हजारों-लाखों आदि वर्ष बीत चुकने के बाद इस कृत पुण्य-पाप का फल मिलता है। बीच के काल में कर्म का जो अस्तित्व जीव के साथ रहता है, उसे ही सत्ता कहते हैं। इसतरह कर्म की सत्ता सिद्ध हो ही जाती है।

कदाचित किसी को कर्मबंध होने के बाद अंतर्मुहूर्त काल के भीतर भी फल मिल सकता है।

सत्ता (सत्त्व) करण संबंधी ब्र. जिनेन्द्र वर्णीजी के विचार निम्नानुसार हैं –

''**सत्ता कर्मबन्ध की द्वितीय अवस्था है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व या विद्यमानता (मौजूदगी) है। कर्मबन्ध से फलप्राप्ति के बीच की अवस्था सत्ता कहलाती है।** इसका फलितार्थ है – **पूर्व-संचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना 'सत्ता' है। सत्ता जीव के लिए बाधक नहीं होती; क्योंकि उदय में आए बिना उसका कोई फल नहीं मिलता। अतः सुख-दुःख का कारण उदय है, सत्ता नहीं।**

जैसे शराब पीते ही वह तुरन्त अपना असर नहीं करती, किन्तु कुछ देर बाद ही असर करती है।

पैसा खजाने में पड़ा रहता है, वैसे ही कर्म भी आत्मा के खजाने में पड़ा रहता है, इसी का नाम सत्ता है।[१]''

●

२. (क) कर्मरहस्य (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से भावग्रहण, पृ. १६७, १६८

भावदीपिका चूलिकाधिकार

अब यहाँ सत्ताकरण के विषय को समझने के लिए पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका शास्त्र के चूलिका अधिकार को देते हैं।

१. ''**कर्म की सत्त्वकरण अवस्था कहते हैं –**

बंध समय से लेकर अपनी स्थिति के अंत पर्यंत जब तक कर्मत्व शक्ति को लिये हुए पुद्गल परमाणु (जीव के साथ) रहते हैं, उदय में नहीं आते, तब तक कर्म की **सत्त्वरूप** अवस्था कहलाती है।

जिस समय चार प्रकार विशेष को लिये हुए कर्मबंध होता है, उसी समय से लेकर अपने-अपने योग्य आबाधा काल को छोड़कर **निषेक रचना होती है।**

जितनी-जितनी स्थिति पड़ती है, उसका उतना-उतना समय होता है, उन समयों के प्रथम समय से लेकर अंत समय पर्यंत गुणहानि रचना का अनुक्रम लिये चय-चय प्रमाण हीन द्रव्य और वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि का अनुक्रम लिये अनुभाग प्रति समय बढ़ता रहता है, उसका नाम **निषेक रचना** कहते हैं।

वहाँ प्रथम निषेक की स्थिति एक समय अधिक आबाधाकाल प्रमाण है। दूसरे निषेक की स्थिति दो समय अधिक आबाधा काल प्रमाण है।

इसीतरह प्रत्येक निषेक की एक-एक समय की स्थिति अधिक है। अंत के निषेक की स्थिति अपना-अपना आबाधाकाल अधिक सम्पूर्ण स्थिति प्रमाण है।

इसलिए जब तक जिस-जिस कर्म की स्थिति पूर्ण होकर उदय को प्राप्त न हो तब तक कर्म का संचयरूप रहना, उसे **सत्त्व** कहते हैं।

वह सत्त्व भी चार प्रकार का है - प्रदेशसत्त्व, प्रकृतिसत्त्व, स्थिति-सत्त्व, अनुभागसत्त्व। उन स्थितिसत्त्व आदि चारों प्रकार के सत्त्व का कारण भी **जीव के शुभाशुभ भाव ही हैं।**

जीव के भाव का निमित्त पाकर चारों ही प्रकार का सत्त्व घटता है। उत्कृष्ट से मध्यम-जघन्य, मध्यम से उत्कृष्ट, जघन्य से उत्कृष्ट-मध्यम - इसप्रकार अनेक अवस्था को प्राप्त होता है।

शुभभाव होने पर सातावेदनीय आदि अघातिया की शुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि सत्त्व में वृद्धि हो जाती है। ज्ञानावरणादि चार घातिया की और असातावेदनीय आदि अघातिया की अशुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि घट जाते हैं।[१]

अशुभभाव होने पर अशुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि सत्त्व बढ़ जाते हैं और सातावेदनीय आदि शुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि सत्त्व घट जाते हैं।[२] ●

---

१. शुभभाव होने पर सत्तास्थित सातावेदनीय आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों की स्थिति में वृद्धि हो जाती है।

२. अशुभभाव होने पर सत्तास्थित समस्त सातावेदनीय आदि पुण्य कर्म प्रकृतियों की स्थिति में हानि हो जाती है।
भावदीपिका का उपर्युक्त कथन सामान्य कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

1. प्रश्न :– सत्त्व अथवा सत्ता किसे कहते हैं?

उत्तर :– अनेक समयों में बँधे हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ अस्तित्व होने का नाम सत्त्व है।

2. प्रश्न :– सत्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर :– सत्त्व भी चार प्रकार का है – प्रकृति सत्त्व, प्रदेश सत्त्व, स्थिति सत्त्व और अनुभाग सत्त्व।

3. प्रश्न :– कर्मों की सत्त्वयोग्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?

उत्तर :– ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की क्रम से ज्ञानावरण कर्म ५ + दर्शनावरण कर्म ९ + वेदनीय कर्म २ + मोहनीय कर्म २८ + आयुकर्म ४ + नाम कर्म ९३ + गोत्र कर्म २ + अन्तराय कर्म ५ = १४८ प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य हैं। (यह कथन नाना जीवों की अपेक्षा से है।)

4. प्रश्न :– पुण्य प्रकृतियाँ कितनी और कौन–सी हैं?

उत्तर :– सातावेदनीय, तीन आयु (तिर्यंच, मनुष्य और देव), उच्च गोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, शुभवर्ण ५, शुभगंध २, शुभ रस ५, शुभस्पर्श ८, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर ये ६८ प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं।

5. प्रश्न :– पाप प्रकृतियाँ कितनी और कौन–सी हैं?

उत्तर :– घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ, नीचगोत्र, असाता–वेदनीय, नरक आयु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि ४ जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर शेष पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पाँच संहनन, अशुभ वर्ण ५, अशुभ रस ५, अशुभ गन्ध २, अशुभ स्पर्श ८, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये १०० पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्यप्रकृतियों की संख्या ६८ और पापप्रकृतियों की संख्या १०० दोनों का जोड़ हुआ १६८, उत्तरप्रकृतियों की संख्या १४८ है। यहाँ २० प्रकृतियों की बढ़ोत्तरी इसलिए हुई कि स्पर्शादि २० प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। इसलिए दोनों जगह उनकी गिनती हुई है।

६. प्रश्न : सत्त्व (सत्ता) करण का स्वरूप क्या है?

१. सत्त्व शब्द से यहाँ **कर्मों की सत्ता** विवक्षित है। **(करणदशक, पृष्ठ ७३)**

२. कर्मस्कन्ध जीव–प्रदेशों से सम्बद्ध होकर कर्मरूप पर्याय से परिणत होने के प्रथम समय में बन्ध व्यपदेश को प्राप्त होते हैं और वे ही कर्मपरमाणु फलदान के समय (उदय क्षण) से पहले समय तक 'सत्त्व' इस संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

३. **बन्ध ही बँधने के दूसरे समय से लेकर निर्लेपन अर्थात् क्षपण होने के अन्तिम समय तक सत्कर्म या सत्त्व कहलाता है।**[१]

४. बन्ध के पश्चात् सत्त्व होता है। जब तक उस कर्म का वेदन होकर वह अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक उस कर्म का 'सत्त्व'

१. ध. ६ पृष्ठ २०१, २०२

रहता है; अर्थात् '**सत्त्वकरण**' रहता है। (**गो.क.सं.र. मुख्तारजी**)

५. सत्त्व का कारण तो बन्ध ही है।

६. उदय का कारण सत्त्व है। (**धवला-१०, पृष्ठ-१४**)

७. सत्त्व जीव के विकारी परिणामों के कार्य का कार्य है।

८. विकारी परिणामों का कार्य कर्मबन्ध है।

९. बन्धरूप कारण का कार्य सत्त्व है।
अनादि के विकारी परिणामों व अनादि के बद्ध कर्मों में इसीप्रकार पारस्परिक कारणकार्यरूप या कार्यकारणरूप सम्बन्ध है।

१०. **सत्त्व स्वयं (उदयकरण के बिना) कभी फलरूप नहीं होता।**

११. **यदि सत्त्वमात्र से फल मिलने लग जाय तो तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व वाले असंख्यात नारकियों को नारक पर्याय में भी तीर्थंकर मानने का अपरिहार्य प्रसंग आवेगा।**

१२. सौधर्मादि देवों में भी असंख्यात तीर्थंकरप्रकृति के सत्त्व वाले जीवों में भी यही प्रसंग आवेगा।

१३. सत्त्व उदय नहीं हो सकता, क्योंकि जो कारण है, उसे ही कार्य नहीं कह सकते।

१४. जीवों के सातावेदनीय व असातावेदनीय में से किसी एक का ही बन्ध अथवा उदय (बन्ध योग्य स्थान में) होता है; परन्तु सत्त्व तो उस समय दोनों का ही है। (**गो.क. गाथा-६३४**)

१५. अनेक समयों में बँधी हुई ज्ञानावरणादिक मूल प्रकृति या उत्तरप्रकृति का जो अस्तित्व है, उसे **प्रकृतिसत्त्व** कहते हैं।

१६. प्रकृतिरूप परिणत जो कर्मस्कन्ध हैं, उनके जो परमाणु सत्ता में मौजूद हैं, उस परमाणुसमुदाय को '**प्रदेशसत्त्व**' कहते हैं।

१७. अनेक समयों में बँधी हुई प्रकृतियों की जो स्थितियाँ हैं, वही **स्थितिसत्त्व** कहलाता है।

१८. अनेक समयों में बद्ध प्रकृतियों का जो अनुभाग सत्ता में पाया जाता है, उसे **अनुभागसत्त्व** कहते हैं।

१९. 'डेढ़गुणहानिह्वसमयप्रबद्ध' प्रमाण परमाणुओं का सत्त्व ही प्रदेशसत्त्व कहलाता है। इतना प्रदेशसत्त्व प्रायः प्रत्येक जीव के पाया जाता है।

२०. **तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व वाले जीव संसार में नित्यमेव असंख्यात मिलते हैं; नरकों में भी असंख्यात हैं एवं स्वर्गों में भी असंख्यात हैं।**

२१. जिन मिथ्यात्वियों के तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व होता है, उनके आहारकद्विक का सत्त्व नहीं होता। (**गो.क. गाथा-३३३**)

२२. **जिन मिथ्यात्वियों के आहारकद्विक का सत्त्व होता है, उनके तीर्थंकर प्रकृति सत्ता में नहीं होती।**

२३. **सासादन गुणस्थान में तो किसी भी जीव के तीर्थंकरप्रकृति का सत्त्व नहीं होता।**

२४. **सासादन जीव के आहारकद्विक की सत्ता भी नहीं बनती है।**

२५. **सम्यग्मिथ्यात्व परिणामयुक्त जीवों के तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती।**

२६. तिर्यंचों में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती। (**गो.क. गाथा-३४५**)

२७. जिनके नरक आयु का सत्त्व है; उन तिर्यंच व मनुष्यों के देशव्रतरूप परिणाम नहीं होते।

२८. जिन जीवों के तिर्यंच आयु की सत्ता है, उनके सकल संयमपना नहीं बन सकता।

२९. **जिनके देवायु का सत्त्व हो, ऐसे मुनिराज कर्मों की पूर्ण क्षपणा नहीं कर पाते, उपशमश्रेणी भले ही चढ़ जावे।**

३०. जिनके एक बार मिथ्यात्व का असत्त्व हो जाता है, उनके फिर से उसका सत्त्व कभी नहीं हो सकता।

३१. नारकियों में देवायु का सत्त्व नहीं होता।

३२. देवों में नरकायु का सत्त्व नहीं होता।

३३. एक जीव के भुज्यमान तथा बध्यमान इन दो आयु से अधिक तीसरी आयु का सत्त्व सम्भव नहीं है।

३४. कम-से-कम एक आयु का (भुज्यमान आयु का) सत्त्व सकल संसारी जीवों के होता ही है। (जब तक आगामी आयु नहीं बंधेगी)।

३५. तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता तीसरे नरक पर्यन्त ही होती है।

३६. तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता ऊपर तो सौधर्मादि सभी स्वर्गों में सम्भव है।

३७. साता व असाता दोनों का सत्त्व तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों के रहता है।

7. प्रश्न : कर्म की सत्ता (सत्व, अस्तित्व) का वर्णन अधिक क्यों?

१. सत्ता, बंध का **कार्य है** और उदय का **कारण है।**

२. सत्ता का कारण बंध है और सत्ता का कार्य उदय है।

३. **सत्ता के कारण और कार्य का वर्णन अधिक है;** इसलिए सत्ता का वर्णन अधिक है।

४. उदय, उदीरणा आदि का कथन सत्ता के बिना नहीं हो सकता।

●

अधिकार तीसरा

३ - उदयकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

प्रस्तुत उदयकरण विषय का विवरण करते समय मेरे मन में जो प्रश्न सहज उत्पन्न हुये थे, उनका उत्तर देने का मैंने प्रयत्न किया है।

१. प्रश्न :- उदयकरण का स्वरूप जानने से कर्म के उदय के अनुसार ही जीव के भाव होते हैं तो कर्म ही बलवान हो गया, कर्म के अनुसार ही जीव को नाचना पड़ेगा। जीव अपनी ओर से स्वतंत्र कुछ कर ही नहीं सकता; ऐसा हमें भी लग रहा है।

प्रथमानुयोग की अनेक कहानियाँ भी इसी विषय को पुष्ट करती हैं। तीर्थंकर (होने वाले) आदिनाथ मुनिराज को अनेक महीने तक आहार नहीं मिला, मुनिराज पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हो गया। इन विषयों को जानते हुए हमें भी कर्म ही बलवान लग रहा है। आप सत्य का ज्ञान कराइए?

उत्तर :- कर्म है, उसका उदय है, उदयानुसार कार्य होता है, ऐसा कथन भी शास्त्र में मिलता है। इसका अर्थ कर्म बलवान है, जीव का उनके सामने कुछ नहीं चल सकता, ऐसा नहीं है। जब कर्म का उदय रहता है, तब जीव अपने में कुछ परिवर्तन किए बिना क्या खाली बैठा रहता है? अपराध तो जीव स्वयं करता है।

क्रम से हम इसके सत्य स्वरूप को जानने का प्रयास करते हैं।

कर्म के दो भेद हैं - १. घाति कर्म और २. अघाति कर्म। इनमें से पहले हम अघाति कर्म की बात करेंगे। अघाति कर्मों के ४ भेद हैं -

उनके नाम क्रमशः वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं। प्रत्येक का कार्य भी भिन्न-भिन्न है।

वेदनीय :- अनुकूल अथवा प्रतिकूल बाह्य संयोगों की प्राप्ति कराना एवं जीव के सुख-दुःखभाव के वेदन में निमित्त होना, ये वेदनीय कर्म के कार्य हैं।

आयु :- विशिष्ट काल मर्यादा तक जीव को मनुष्यादि गतियों में रोके रखने में मात्र निमित्त होना, यह आयु कर्म का कार्य है।

नाम :- नाम कर्म के निमित्त से गति, जाति, शरीर आदि का जीव से संयोग कराने में निमित्त होना, यह नाम कर्म का कार्य है।

गोत्र :- जीव का नीच अथवा उच्च विचार वाले कुल में जन्म होने में निमित्त होना, यह गोत्र कर्म का कार्य है।

इसतरह चारों अघाति कर्मों का कार्य विभिन्न प्रकार के संयोग प्राप्त कराने में निमित्त रूप से ही फलता है अर्थात् **अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों को प्राप्त कराने में ही चारों अघाति कर्म कार्य करते हैं; निमित्त होते हैं। इनका संबंध जीव के परिणामों से नहीं है।**

संसारमार्ग अथवा मोक्षमार्ग के साथ भी इन कर्मों का कुछ संबंध नहीं है। संयोग प्राप्त कराने में ही अघाति कर्म काम करते हैं। संयोग न संसार का कारण है न मोक्ष का। पर पदार्थ का संयोग जीव को सुख-दुख का दाता नहीं है।

संयोग तो अन्य जीव एवं पुद्गलादिरूप है।

संयोग में वेदनीय आदि कर्म ही बलवान है, ऐसा उपचार से कहोगे तो भी हमें कुछ आपत्ति नहीं है। संयोगरूप पदार्थ पर द्रव्यरूप है।

संयोग-वियोग तो अघाति कर्मों से होता है; उसमें जीव का कुछ कर्त्तव्य घातिकर्मों के कार्य नहीं है।[१]

ज्ञानावरणादि चार घाति कर्म हैं। ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान और दर्शन गुण की अल्प मात्रा में व्यक्तता

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५

रहती है। मोहनीय के निमित्त से मिथ्या श्रद्धान तथा क्रोधादि विकार भाव उत्पन्न होते हैं। अंतराय के उदय से जीव के स्वभाव दीक्षा लेने आदि के सामर्थ्यरूप वीर्य की व्यक्तता नहीं होती।[१]

ऊपर जो लिखा है, वह मोक्षमार्गप्रकाशक के भाव को ही अलग शब्दों में लिखा है। आगे कर्म के बलवानपने को लेकर पण्डित टोडरमलजी के विचार उन्हीं के शब्दों में दे रहे हैं -

२. ''यहाँ कोई प्रश्न करे कि - कर्म तो जड़ हैं, कुछ बलवान् नहीं हैं; उनसे जीव के स्वभाव का घात होना व बाह्य सामग्री का मिलना कैसे संभव है?

समाधान :- यदि कर्म स्वयं कर्त्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिये और बलवानपना भी चाहिये; सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जब उन कर्मों का उदयकाल हो; उस काल में स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणमन नहीं करता, विभावरूप परिणमन करता है, तथा जो अन्य द्रव्य हैं, वे वैसे ही सम्बन्धरूप होकर परिणमित होते हैं।

जैसे - किसी पुरुष के सिर पर मोहनधूल पड़ी है, उससे वह पुरुष पागल हुआ; वहाँ उस मोहनधूल को ज्ञान भी नहीं था और बलवानपना भी नहीं था; परन्तु पागलपना उस मोहनधूल ही से हुआ देखते हैं।

वहाँ मोहनधूल का तो निमित्त है और पुरुष स्वयं ही पागल हुआ परिणमित होता है - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है।

तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय के काल में चकवा-चकवियों का संयोग होता है; वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं, दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से लाकर मिलाये नहीं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २४

हैं, सूर्योदय का निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं और सूर्यास्त का निमित्त पाकर स्वयं ही बिछुड़ते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। उस ही प्रकार का कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना। इसप्रकार कर्म के उदय से अवस्था है।[१]''

कर्म के बलवानपने का निषेध करने वाला मोक्षमार्गप्रकाशक का अंश पृष्ठ ३१०, ३११ व ३१२ का भाग अति उपयोगी होने से आगे हम दे रहे हैं -

३. ''फिर प्रश्न कि भ्रम का भी तो कारण कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करें?

उत्तर :- सच्चे उपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है; परन्तु ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, इसी से भ्रम रहता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे - तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादि हों तब भ्रम दूर हो जाये; क्योंकि **निर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।**

४. फिर प्रश्न है कि निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता, उसका भी तो कारण कर्म है?

समाधान :- एकेन्द्रियादिक के विचार करने की शक्ति नहीं है, उनके तो कर्म ही का कारण है। इसके तो ज्ञानावरणादिक के क्षयोपशम से निर्णय करने की शक्ति हुई है, जहाँ उपयोग लगाये, उसी का निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्य निर्णय करने में उपयोग लगाता है, यहाँ उपयोग नहीं लगाता। सो यह तो इसी का दोष है, कर्म का तो कुछ प्रयोजन नहीं है।

५. फिर प्रश्न है कि सम्यक्त्व-चारित्र का घातक मोह है, उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपाय कैसे बने?

उत्तर :- तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगाये वह तो इसी का

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५

दोष है। तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है।

इसलिये मुख्यता से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। तथा उपदेश भी देते हैं, सो यही पुरुषार्थ कराने के अर्थ दिया जाता है, तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ अपने आप सिद्ध होगा।

तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है; सो जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है।

तुझे विषयकषायरूप ही रहना है, इसलिये झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिये बनाये? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखादेखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता।

हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे यह असंभव है।''

हम भी तर्क के आधार से कर्म और जीव के संबंध में कुछ विचार करते हैं।

६. प्रश्न :- कर्म के उदय का समय एवं औदयिक भाव - इन दोनों का समय/काल एक ही है अथवा भिन्न-भिन्न है; इस विषय को लेकर भी हमें थोड़ा यहाँ सूक्ष्मता से विचार बताइए।

- ☞ **जैसे क्रोध कषाय का उदय पहले समय में आता है और क्रोध भाव दूसरे समय में होता है; क्या ऐसा है?**
- ☞ **अथवा पहले क्रोधभाव उत्पन्न होता है और दूसरे समय में क्रोध कषाय कर्म का उदय आता है; क्या ऐसा है?**
- ☞ **अथवा क्रोध कषाय का उदय और जीव में उत्पन्न होने वाला क्रोध भाव - दोनों का समय एक है; क्या ऐसा है?**

उत्तर :- तीनों में से तीसरा प्रकार अर्थात् कर्म का उदय और

औदयिक भाव - दोनों का समय एक है; यह जैन आगम का कथन है। फिर दोनों का समय एक ही है तो कर्म के उदय ने जीव के भावों को उत्पन्न किये; यह बात बन ही नहीं सकती?

हाँ, कर्म का उदय और जीव के भावों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है - दोनों में काल प्रत्यासत्तिरूप बाह्यव्याप्ति है। दोनों का अर्थात् कर्म का उदय एवं औदयिक भाव का काल/समय एक है। इसलिए **किसी एक कर्म ने किसी एक जीव के विकार का कार्य किया है, यह बात ही सिद्ध नहीं हो सकती।**

अर्थात् कर्म के उदय ने जीव के भाव किए, यह बात सिद्ध नहीं होती। इसलिए कर्म बलवान है, जीव बलहीन है; यह कथन कथनमात्र ही है, वास्तविकता नहीं।

इसलिए कर्म बलवान है, यह बात आगम को/वस्तुस्वरूप को मान्य नहीं।

७. प्रश्न :- प्रथमानुयोग में कहानी के प्रसंग में अथवा करणानुयोग में कर्म के बलवानपने की बात आती है; मात्र आपके मना करने से क्या होता है?

उत्तर :- अनुपचरित या उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अनेक जगह कर्मों को शास्त्रों में भी बलवान लिखा है। यहाँ नय के आधार से यथार्थ अर्थ करने एवं समझने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रसंग में मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र से मार्गदर्शन लेना अति महत्त्वपूर्ण है। वह निम्न प्रकार से है -

''निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया है; उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।''[१]

आगे पण्डित श्रीटोडरमलजी प्रश्नोत्तररूप में पाठकों को और विशेषरूप से समझाते हैं -

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५०

८.''प्रश्न - यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

उत्तर :- जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो - 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' - ऐसा जानना।

इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।''[१]

आचार्य अमितगति ने भी योगसारप्राभृत ग्रन्थ में श्लोक क्रमाँक ५०५ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि -

''न कर्म हन्ति जीवस्य, न जीवः कर्मणो गुणान्।
वध्य-घातक भावोऽस्ति नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः ।।

सरलार्थ :- ज्ञानावरणादि कर्म जीव के ज्ञानादि गुणों का घात/नाश नहीं करते और जीव कर्मरूप पुद्गल के स्पर्शादि गुणों का घात नहीं करता। ज्ञातास्वभावी जीव और स्पर्शादि गुणमय कर्म - इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के साथ वध्य-घातक भाव नहीं है - अर्थात् दोनों स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के घातक नहीं है।''

मोक्षमार्गप्रकाशक एवं योगसारप्राभृत के उद्धरण से हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कर्म बलवान नहीं है, जीव बलहीन नहीं है। दोनों अपने-अपने में पूर्ण स्वतंत्र और स्वाधीन हैं।

परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहना बात अलग है। अज्ञानी को निमित्त नैमित्तिक संबंध में कर्त्ता-कर्म संबंध भासित होता है, वह उनका घोर एवं दुःखदायक अज्ञान है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५१

समयसार ग्रन्थ में कर्म एवं जीव दोनों अपने-अपने में स्वतंत्र परिणमते हैं, ऐसा कथन अनेक जगह आया है। यहाँ हम मात्र उनका उल्लेख कर रहे हैं। जिज्ञासु उन प्रकरणों को देखकर अपना ज्ञान-श्रद्धान यथार्थ करे।

जीव एवं पुद्‌गल - दोनों अपना-अपना परिणमन करने में स्वतंत्र हैं - समयसार कलश 64,65। गाथा 173 से 176 तथा इन गाथाओं की टीका एवं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का भावार्थ। समयसार कलश क्रमांक 210, 219, 220, 221। प्रवचनसार गाथा 101 एवं उनकी टीका। भाव शक्ति-अभाव शक्ति। द्रव्यत्व नामक सामान्य गुण।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन में एक वाक्य अनेक बार आता है, उसके आधार से भी हम कुछ सोच सकते हैं। वाक्य इसप्रकार - **'कर्म के उदय से होनेवाला औदयिक परिणाम कर्म के उदय के बिना होता है।'**

इस एक ही वाक्य में किया गया कथन परस्पर विरोधी है। वाक्य के पूर्वार्द्ध में कहा - 'कर्म के उदय से होनेवाला औदयिक परिणाम', वाक्य के अन्तिम विभाग में कहते हैं - 'वह औदयिक परिणाम कर्म के उदय के बिना होता है।'

इसका मर्म यह है - निमित्त की मुख्यता से जब कथन करना हो तो यही कथन करना आवश्यक है कि - 'कर्म के उदय से औदयिक परिणाम होता है।'

जब औदयिक परिणाम संसारी जीव का परिणाम है, कर्म का नहीं; इसतरह उपादान की मुख्यता से कथन करना हो तो कर्म के उदय की अपेक्षा रखे बिना जीव उस परिणाम का कर्त्ता है, यह समझना आवश्यक है। इस पद्धति का अवलंबन लेकर हम निम्न प्रकार वाक्य भी बना सकते हैं -

१. कर्म के उपशम से होनेवाला औपशमिक भाव कर्म के उपशम होने पर ही अर्थात् उपशम के समय ही होता है; तथापि उपशम से नहीं होता।

२. कर्म के क्षय से होनेवाला क्षायिक भाव कर्म के क्षय के होने पर ही अर्थात् क्षय के काल में ही होता है; तथापि कर्म के क्षय से नहीं होता।

३. कर्म के क्षयोपशम से होनेवाला जीव का क्षायोपशमिक भाव कर्म के क्षयोपशम के होने पर ही अर्थात् कर्म के क्षयोपशम के समय ही होता है; तथापि कर्म के क्षयोपशम से नहीं होता।

इसकारण आचार्य वीरसेन ने औपशमिकादि पाँचों भावों को पारिणामिक भाव कहा है।[1]

संक्षेप में मुख्यरूप से हमें यहाँ एक ही विषय बताना है कि कर्म विकारों में अथवा संयोगों में मात्र निमित्त है, वह कर्म जीव के विकारों को अथवा जीवादि द्रव्यों के संयोगों को बलजोरी से परिवर्तित नहीं करता।

जब क्रोधादि विभाव/विकार भाव होते हैं अथवा जीव के साथ अन्य जीवादि द्रव्यों का संयोग होता है, उसमें कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है।

एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का अथवा एक समयवर्ती एक पर्याय किसी अन्य पर्याय का कुछ भी नहीं कर सकती; यह जिनधर्म के वस्तुव्यवस्था का मूल प्राण है। इस महा सिद्धान्त को छोड़ने का अर्थ जिनधर्म ही छोड़ना है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३११ पर ग्रन्थकार तत्त्वनिर्णय करनेरूप पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय प्रगट होता है; इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. जयधवला भाग-१, पृ. ३१९, धवला भाग-५, पृ. १९७

९. ''यहाँ प्रश्न है कि तुमने कहा सो सत्य; परन्तु द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होता है, भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है, तथा फिर उसके उदय से भावकर्म होता है – इसी प्रकार अनादि से परम्परा है, तब मोक्ष का उपाय कैसे हो?

समाधान :– कर्म का बन्ध व उदय सदाकाल समान ही होता रहे तब तो ऐसा ही है; परन्तु परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्धकर्म के भी उत्कर्षण–अपकर्षण–संक्रमणादि होने से उनकी शक्ति हीनाधिक होती है; इसलिये उनका उदय भी मन्द–तीव्र होता है। उनके निमित्त से नवीन बन्ध भी मन्द–तीव्र होता है।

इसलिये संसारी जीवों को कर्मोदय के निमित्त से कभी ज्ञानादिक बहुत प्रगट होते हैं, कभी थोड़े प्रगट होते हैं; कभी रागादिक मन्द होते हैं, कभी तीव्र होते हैं। इसप्रकार परिवर्तन होता रहता है।

वहाँ कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय प्राप्त की, तब मन द्वारा विचार करने की शक्ति हुई। तथा इसके कभी तीव्र रागादिक होते हैं, कभी मन्द होते हैं। वहाँ रागादिक का तीव्र उदय होने से विषयकषायादिक के कार्यों में ही प्रवृत्ति होती है। तथा रागादि का मन्द उदय होने से बाह्य उपदेशादिक का निमित्त बने और स्वयं पुरुषार्थ करके उन उपदेशादिक में उपयोग को लगाये तो धर्मकार्यों में प्रवृत्ति हो; और निमित्त न बने व स्वयं पुरुषार्थ न करे तो अन्य कार्यों में ही प्रवर्ते, परन्तु मन्द रागादिसहित प्रवर्ते। – ऐसे अवसर में उपदेश कार्यकारी है।

विचारशक्ति रहित जो एकेन्द्रियादिक हैं, उनके तो उपदेश समझने का ज्ञान ही नहीं है; और तीव्र रागादिसहित जीवों का उपयोग उपदेश में लगता नहीं है।

इसलिये जो जीव विचारशक्ति सहित हों, तथा जिनके रागादि मन्द हों; उन्हें उपदेश के निमित्त से धर्म की प्राप्ति हो जाये तो उनका भला हो; तथा इसी अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है।

एकेन्द्रियादिक तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें? और तीव्रकषायी पुरुषार्थ करे तो वह पाप ही का करे, धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

इसलिये जो विचारशक्ति सहित हो और जिसके रागादिक मन्द हों – वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो।

यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये - या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते, या व्यवहारधर्म कार्यों में प्रवर्ते; तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, **कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी।**

सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्त्तव्य कुछ नहीं है।''

भावदीपिका शास्त्र में उदयकरण का एक छोटा–सा यह प्रकरण है। उस छोटे से प्रकरण को आप सूक्ष्मता से पढ़ोगे तो एक नया तथा पुरुषार्थप्रेरक विषय मिलेगा। उस विषय को हम समझने का प्रयास करते हैं।

उदयकरण को समझाते समय ग्रंथकार चौथे अनुच्छेद में प्रदेश उदय की परिभाषा लिखते हैं –

'वहाँ जीव के परिणामों का निमित्त पाकर फल देकर या बिना फल दिये ही कर्म-परमाणुओं का खिर जाना उसे प्रदेश उदय कहते हैं।'

यहाँ इस परिभाषा में महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि **फल देकर या बिना फल दिये बिना ही।**

बद्ध कर्म की चर्चा करते समय सामान्यतः यह बात होती है कि जो कर्म एक बार जीव के साथ बंध गया तो वह फल दिये बिना नहीं जाता। कर्म बंध गया तो वह फल तो देगा ही।

कर्म के स्वरूप में और एक दूसरी बात है कि कर्मबंध हो गया तो उसका तो उदय आयेगा ही। उदय आये बिना कर्म को जीव से अलग होने का अन्य कोई मार्ग/उपाय है नहीं।

यह जो अभी ऊपर दूसरी बात कही गयी है वह तो सत्य ही है कि जिस कर्म का एक बार जीव के साथ एकक्षेत्रवगाहरूप बंध हो गया वह किसी न किसी समय अर्थात् स्थितिबंध की अर्थात् उस कर्म की जीव के साथ रहनेरूप काल मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म जीव से अलग तो होगा ही। ऐसा ही कर्म शास्त्र को स्वीकार है। अस्तु।

कर्म के जीव से अलग होने के दो प्रकार हैं। एक प्रकार तो यह है कि कर्म जीव के साथ रहने की कालमर्यादा पूर्ण हो जाने पर फल देते हुए निकल जाना, जिसे शास्त्र में सविपाक निर्जरा कहते हैं। कर्म का निकल जानेरूप कार्य तो हो गया; लेकिन उस कर्म ने पीछे नये कर्म का बंध करके अर्थात् अपने उदयकाल में जीव को फल देकर खिर गया। इसलिए इस तरह कर्मफल देकर जो कर्म जाता है उसे ही शास्त्र में सविपाक निर्जरा कहा है। उसी को इसी भावदीपिका ग्रन्थ में निम्नप्रकार बताया है –

''एक-एक समय में एक-एक निषेक अपना-अपना फल देकर उदय को प्राप्त होता है और फल देकर खिर जाता है, उसी को सविपाक निर्जरा कहते हैं।''

यह जो सविपाक निर्जरा है, वह धर्म के क्षेत्र में कुछ उपयोगी नहीं है। ऐसी निर्जरा तो सभी अनन्त संसारी जीवों को अनादि से हो ही रही

है और जबतक सम्यक्त्वादि धर्मरूप परिणाम नहीं होंगे, तबतक होती ही रहेंगी।

दूसरी अविपाक निर्जरा है, उसका स्वरूप भी भावदीपिका में निम्न शब्दों में कहा है – **''जो जीव सम्यक्त्व-चारित्रादि विशुद्धभावों रूप परिणमे, वहाँ एक-एक समय में असंख्यात-असंख्यात निषेक उदय में आकर, बिना फल दिये ही प्रदेश उदय होकर खिरते हैं, उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।''**

इस परिभाषा के कारण यह तो सिद्ध हो ही गया कि कर्म, फल दिये बिना भी जीव से अलग होता है – निर्जरित होता है। **प्रत्येक बद्धकर्म का फल भोगना जीव को अनिवार्य नहीं है।**

१०. प्रश्न :– कर्म का उदय आयेगा तो वह तो फल देगा ही देगा। फल दिये बिना कर्म जाता है – यह विषय हमारे मानस को स्वीकार नहीं हो रहा है। हमें शास्त्राधार से स्पष्ट समझाइए?

उत्तर :– पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका का ऊपर का उद्धरण शास्त्र का ही तो दिया है।

११. प्रश्न :– भावदीपिका से भी प्राचीन ग्रंथ का अर्थात् आचार्य के कथन को बताइए तो अधिक अच्छा रहेगा?

उत्तर :– गृहस्थ विद्वान द्वारा रचित शास्त्र की प्रामाणिकता में कुछ कमी देखना और आचार्य कृत शास्त्र की प्रामाणिकता में कुछ विशेषता मानना उचित नहीं लगता; तथापि आपने प्रश्न किया है तो उत्तर देने का प्रयास करते हैं। आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार शास्त्र में गाथा ४५ की संस्कृत टीका में स्पष्ट लिखा है –

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बंधो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बंधो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बंध एव न मोक्ष इति अभिप्रायः।

हिन्दी अर्थ :– द्रव्य मोह का उदय होने पर भी यदि शुद्धात्मभावना के बल से भावमोहरूप परिणमन नहीं करता तो बन्ध नहीं होता। यदि पुनः कर्मोदय मात्र से बंध होता तो संसारियों के सदैव कर्म के उदय की विद्यमानता होने से सदैव-सर्वदा बंध ही होगा, कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा - यह अभिप्राय है।

१२. प्रश्न :– पूँछने में संकोच तो हो रहा है तो भी पूँछ ही लेते हैं – आचार्य जयसेन से भी प्राचीन आचार्य का हम कथन चाहते हैं?

उत्तर :– तत्त्वनिर्णय के लिए पूछने में संकोच करने की क्या आवश्यकता है? आचार्य समंतभद्र ने तो १८०० वर्ष पूर्व **आप्तमीमांसा** ग्रन्थ में भगवान की भी परीक्षा की है। आचार्य विद्यानन्द ने तो **आप्त परीक्षा** नाम का शास्त्र ही लिखा है। अतः प्रश्न करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्रंथाधिराज समयसार की मूलगाथा १७३ में लिखा है – ''सम्यग्दृष्टि के समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्तारूप में विद्यमान हैं, **वे उपयोग (ज्ञान-दर्शन) के प्रयोगानुसार कर्मभाव के द्वारा (रागादि के द्वारा) नवीन बंध करते हैं।**''

आगे आचार्य कुन्दकुन्द ने ही गाथा १७४,१७५, १७६ में उदाहरण देकर इसी विषय को अधिक स्पष्ट किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत टीका में भी इसी विषय को और अधिक स्पष्ट किया है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी भावार्थ में मर्म को स्पष्ट किया है। श्री छाबड़ाजी के भावार्थ का अंश –

''**द्रव्यास्रवों के उदय में युक्त हुये बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बन्ध भी नहीं हो सकता।** द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो

उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं। **यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता।**''

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत समयसार शास्त्र की ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका में यह विषय आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा और स्पष्ट किया है। उसे यहाँ दे रहे हैं –

''जिसप्रकार तत्काल की विवाहित बाल स्त्री अनुपभोग्य है, भोगने योग्य नहीं; किन्तु वही पहले की परिणीत बाल स्त्री यथासमय यौवनावस्था को प्राप्त होने पर उपभोग्य हो जाती है, भोगने योग्य हो जाती है। वह यौवनावस्था को प्राप्त युवती स्त्री जिसप्रकार उपभोग्य हो, तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बंधन में डालती है, वश में करती है।

उसीप्रकार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय पूर्व में सत्तावस्था में होने से अनुपभोग्य थे; किन्तु जब विपाक अवस्था में, उदय में आने पर उपभोग के योग्य होते हैं, तब उपयोग के प्रयोगानुसार अर्थात् जिसरूप में उपभोग्य हों, तदनुसार कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही बंधन करते हैं। इसलिए यदि ज्ञानी के पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तो भले रहें; तथापि वह ज्ञानी निरास्रव ही है; क्योंकि **कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बंध के कारण नहीं हैं।**''

डॉ. भारिल्ल ही आचार्य अमृतचन्द्र के इसी विषय को और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं –

''यहाँ उदाहरण में तत्काल की विवाहित बाल स्त्री ली है। यद्यपि लोक में कानूनी और सामाजिक दृष्टि से विवाहित स्त्री को उसके पति द्वारा भोगने योग्य माना जाता है; तथापि यदि वह विवाहित स्त्री बालिका हो, कच्ची उम्र की हो तो विवाहित होने पर भी बाल्यावस्था के कारण भोगने योग्य नहीं होती; किन्तु जब वही विवाहित बालिका जवान हो

जाती है तो सहज ही पुरुष (पति) के द्वारा भोगने योग्य हो जाती है। इस उदाहरण के माध्यम से आचार्यदेव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि **स्वयं के द्वारा पूर्व में बाँधे गये और जो अभी सत्ता में विद्यमान हैं, वे कर्म जीव के द्वारा अभी बालिका स्त्री के समान भोगने योग्य नहीं हैं; किन्तु जब उनका उदयकाल आयेगा, तब वे जवान स्त्री की भाँति भोगने-योग्य हो जायेंगे।**

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार पूर्व में विवाहित वह बाल स्त्री जवान हो जाने पर भी पुरुष (पति) को पुरुष के रागभाव के कारण ही वश में करती है, बंधन में डालती है। यदि पुरुष (पति) के हृदय में रागभाव न हो तो वह जवान स्त्री (पत्नी) भी उसे नहीं बाँध सकती; उसीप्रकार पूर्व में बद्ध कर्म उदय में आने पर भी जीव को उसके रागभाव के कारण ही बंध के कारण बनते हैं। यदि जीव की पर्याय में रागभाव न हो तो मात्र द्रव्यकर्मों का उदय कर्मबंध करने में समर्थ नहीं होता।

यहाँ इसी बात पर विशेष वजन दिया गया है कि आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप भाव ही मूलतः बंध के कारण हैं। यदि मोह-राग-द्वेष न हो तो पूर्वबद्ध कर्म का उदय भी बंधन करने में समर्थ नहीं है। इसप्रकार **न तो बंधावस्था को प्राप्त कर्म, बंधन के कारण हैं; न सत्ता में पड़े हुए कर्म, बंधन के कारण हैं और न रागादि के बिना उदय में आये कर्म, बन्धन के कारण हैं।**

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म का बंध, सत्त्व और उदय जीव को बन्धन में नहीं डालते, आगामी कर्मों का बन्ध नहीं करते; अपितु आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव ही कर्मबंध के मूलकारण हैं। अतः कर्मों के बंध, सत्त्व और उदय के विचार से आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है'' समयसार ।।१७३-१७६।।

कर्म का उदय होने पर औदयिक भाव होता ही है, यह निमित्त की मुख्यता से कथन है। व्यवहार का कथन है। वास्तविक वस्तुस्वरूप तो यह है कि जब जीव विकारभाव से परिणमित होता है, तब कर्म के निमित्त का व्यवहार होता है।

इसी विषय को आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश १७३ में भी कहा है। इसी कलश का पद्यानुवाद करते समय पण्डित बनारसीदासजी समयसार नाटक में निम्नानुसार लिखते हैं; उसे संक्षेप में अर्थ सहित दे रहे हैं -

''तेई जीव परम दसा मैं थिररूप ह्वैकै।
धरम मैं धुके न करम सौं रुकत हैं।।

भावार्थ - ऐसे जीव निर्विकल्प निरुपाधि आत्मसमाधि को साधकर सगुण मोक्षमार्ग में तेजी से बढ़ते हैं और परमदशा में स्थिर होकर धर्ममार्ग में तेजी से बढ़ते हुए मुक्ति को प्राप्त करते हैं; **कर्मों के रोके रुकते नहीं हैं।''**

अनेक स्थान पर शुद्धोपयोग में - मुख्यतया जब श्रेणी पर मुनिराज आरूढ़ रहते हैं, उस समय के संबंध में कथन ऐसा भी आता है कि जो अबुद्धिपूर्वक विभाव भाव होता है, उसे कर्म के उदय का कार्य भी कहा जायेगा और कर्म ने कुछ फल दिया ही नहीं, ऐसा भी समझाया जाता है।

जब वर्तमान पर्याय के विभाव भाव की मुख्यता करते हैं तो उस विभाव भाव को कर्म के उदय का कार्य ही कहना उचित है।

जब कर्मबन्ध के समय जितना अनुभाग बंध हुआ था और जितना अनुभाग/फल मिलना चाहिए था, उतना फल मिलता हुआ देखने में न आने पर कर्म का फल मिला ही नहीं, ऐसा भी कथन उचित ही है।

१. कर्म के उदयानुसार जीव को औदयिक भाव होते हैं। २. कर्म का उदय औदयिक भाव को करता है। ३. कर्म औदयिक भाव को उत्पन्न करता है। ४. कर्म का उदय किसी भी जीव को नहीं छोड़ता। ५. कर्म बहुत बलवान है। ६. कर्म के निमित्त से नैमित्तिकरूप औदयिक भाव होते ही हैं। ७. कर्म के सामने किसी का कुछ नहीं चलता। ८. अनादिकाल से कर्म ही जीव को संसार में रुला रहा है - दुःख दे

रहा है। इत्यादि सर्व कथन – जो जिनवाणी में हजारों स्थान पर आये हैं, निमित्त की मुख्यता से उचित निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ही आये हैं।

एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। यह वीतरागी जिनधर्म का प्राण है। द्रव्यानुयोग में यहाँ तक कथन आता है कि द्रव्य और गुणों से भी पर्याय नहीं होती। पर्याय अपने षट्कारकों से अपने काल में अपनी स्वयं की पर्यायगत योग्यता से होती है।

द्रव्य अपने कारण से द्रव्य है। गुण, अपने कारण से गुणरूप है। द्रव्य के कारण गुण और गुण के कारण से द्रव्य, यह भी व्यवहार कथन है। इस यथार्थ वस्तु-व्यवस्था को जब जीव स्वीकार करता है, तब कर्म जीव को हैरान करता है, यह कथन मात्र उपचरित व्यवहारनय का कथन है, ऐसा पक्का निर्णय होता है।

करणानुयोग की कथन शैली निमित्त की मुख्यता से होती है। प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग में भी निमित्त को ही महत्त्व दिया जाता है। इतना ही नहीं उपादान की मुख्यता से प्रतिपादन करने वाले द्रव्यानुयोग में भी निमित्तपरक कथन कुछ कम नहीं रहता। इसलिए पात्र जीव को तो उपादान के कथन की मुख्यता से कहने वाले विषय को प्रधान/मुख्य करके सोचते हुए यथार्थ तत्त्वनिर्णय करना आवश्यक है।

निमित्त है, कर्म है, कर्म को उपचार से बलवान भी कहा गया है; लेकिन वह बलवान नहीं है, जीव ही बलवान है।[१]

पंचास्तिकाय शास्त्र की अनेक गाथाओं का अर्थ यहाँ उपयोगी होने से मात्र गाथाओं का अर्थ आगे दे रहे हैं –

कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को कर्त्ता है। वैसा जीव भी कर्मस्वभाव भाव से (औदयिकादि भाव से) बराबर अपने को करता है।।62।।

१. इस संबंध में लेखक की गुणस्थान-विवेचन किताब का पृष्ठ २६२ से २६५ को देखना उपयोगी रहेगा।

यदि कर्म कर्म को करे और आत्मा आत्मा को करे तो कर्म आत्मा को फल क्यों देगा? और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा? ।।६३ ।।

लोक सर्वतः विविध प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म तथा बादर पुद्गल कायों (पुद्गल स्कंधों) द्वारा विशिष्ट रीति से अवगाहित, (गाढ भरा) हुआ है।।64।।

आत्मा (मोह-राग-द्वेषरूप) अपने भाव को करता है; (तब) वहाँ रहने वाले पुद्गल अपने भावों से जीव में (विशिष्ट प्रकार से) अन्योऽन्य अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।।६५ ।।

जिसप्रकार पुद्गल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कंध रचना पर से किए गए बिना होती दिखवाई देती है; उसीप्रकार कर्मों की बहु प्रकारता पर से अकृत जानो।।66।।

प्रवचनसार ग्रन्थ का ज्ञेयाधिकार वस्तुव्यवस्था का ज्ञान करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। प्रत्येक पर्याय का जन्मक्षण स्वतंत्र है; यह विषय गाथा नं. १०२ में आया है।[१]

आप कहोगे कि धार्मिक होने पर तो कर्म फल दिये बिना जा सकते हैं। हाँ, हम इतना ही चाहते हैं कि कर्म किसी को भी सही अथवा कभी ना कभी सही फल दिये बिना जा सकते हैं। इससे यह तो स्पष्ट हो ही गया कि जीव बलशाली है – जीव अपने आप बदलता है तो कर्मों में भी बदल हो ही जाता है। – यह तो धर्म (सम्यक्त्व + चारित्र) धारण करने के बाद की चर्चा हुई।

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि यह जीव धार्मिक न होने पर भी कर्म अपने में जितनी सामर्थ्य है, उतनी सामर्थ्य के साथ जीव को फल देने में समर्थ नहीं है।

१३. प्रश्न :– आप यह शास्त्र के विरुद्ध कैसी बात कर रहे हो?

१. इस गाथा की टीका भी अवश्य देखें।

यह उचित नहीं है। आप अपने इस कथन को शास्त्र के आधार से सिद्ध कर सकते हो क्या?

उत्तर :– आपका भाव/अभिप्राय सही है। हम शास्त्र के आधार से कहेंगे तो मानोगे ना? भाई! हम भी शास्त्र के विरोध में बोलने से ड़रते ही हैं। वास्तविकरूप से सोचा जाय तो शास्त्र का विरोध करने का अर्थ है – देव तथा गुरु का भी विरोध करना है; क्योंकि इस काल में तो शास्त्र से ही देव-गुरु का परिचय प्राप्त होता है। इसलिए सहज संयोग से कहो अथवा बुद्धिपूर्वक कहो देव-शास्त्र-गुरु ऐसा ही क्रम शास्त्र को स्वीकार है।

कर्म, स्वभाव से अपने सामर्थ्य के अनुसार फल देने में असमर्थ है, यह विषय स्पष्ट करना है। इसलिए हमें शास्त्र में कर्म की क्षयोपशम की जो परिभाषा आयी है, उसे समझना चाहिए, जो इसप्रकार है –

"वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, भविष्य में उदय आने योग्य, उन्हीं सर्वघाति, स्पर्धकों का सद्‌वस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय - इन तीन रूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं।"

यहाँ विचार करते हैं कि हमें आपको वर्तमान काल में कितने ज्ञान है? तो सहज ही सामान्य आगम/शास्त्र का अध्ययन करनेवाला कहेगा – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दो ज्ञान हैं। (अभी कुमति-सुमति को गौण करके सामान्य बात करते हैं।)

फिर यह सोचेंगे कि किस कर्म की किस प्रकार की अवस्था के कारण मतिज्ञान-श्रुतज्ञान है? तो उत्तर यह रहेगा कि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से हमें मतिज्ञान है।

१४. फिर प्रश्न हम स्वयं से ही पूछेंगे – ऊपर लिखित परिभाषा के अनुसार हमें अभी मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों की दशा कैसी है? तो उत्तर रहेगा - उनका तो उदयाभावी क्षय है।

फिर प्रश्न होगा कि यदि मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय आ जाय तो क्या होगा?

बोलिए, भाईसाहब! बोलिए ! **यदि सर्वघाति स्पर्धकों का उदय आ जाय तो मतिज्ञान का पूर्ण अभाव होगा तो जीव जड़ हो जायेगा।**

फिर हम सहजता से ही पूछेंगे – मतिज्ञानावरण के किस स्पर्धक का उदय है? उत्तर यह होगा कि मतिज्ञानावरण के देशघाति स्पर्धकों का उदय है।

१५. प्रश्न :– मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय अर्थात् सर्वघाति रूप से उदय में नहीं आना, यह कार्य किस कारण से और कब से हो रहा है?

उत्तर :– अनादिकाल से कर्मों का ऐसा ही स्वभाव शास्त्र में कहा गया है।

१६. प्रश्न :– आप जैसा बता रहे हो, ऐसा अर्थ किसी विद्वान ने हमें नहीं बताया?

उत्तर :– आपको स्वयं समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अन्य लोगों ने नहीं सुनाया; ऐसी शिकायत न करें।

कोई भी विद्वान अपने मति-कल्पना से शास्त्र का अर्थ कैसा और क्यों करेगा? आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज ने सर्वार्थसिद्धि नामक शास्त्र में तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के ५वें सूत्र की टीका में संस्कृत भाषा में लिखा है – **सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघाति-स्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति।** इसका हिन्दी भाषा में अर्थ ऊपर परिभाषा में दिया है।

१७. प्रश्न :– जैसा आपने बताया वैसा क्षयोपशम कितने कर्मों में होता है?

उत्तर :– चारों घाति कर्मों में ही क्षयोपशम होता है।

१८. प्रश्न :– अभी हमें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं है तो उनके संबंध में आवरण कर्मों का क्या स्वरूप है?

उत्तर :– अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण – ये दोनों कर्म स्वभाव से तो देशघाति ही हैं; तथापि उन देशघाति कर्मों के सर्वघाति स्पर्धकों का ही उदय होने से दोनों ज्ञानों का हमें अभाव ही है।

जिन मुनिराज को मनःपर्ययज्ञान होता है; उन्हें मनःपर्ययज्ञानावरण का **क्षयोपशम** होता है। जिन मुनिराज अथवा मनुष्य या तिर्यंच को अवधिज्ञान होता है, उन्हें अवधिज्ञानावरण कर्म का **क्षयोपशम** होता है।

जिस विषय का हमें ज्ञान नहीं, वहाँ सर्वघाति कर्म का उदय है।

१९. प्रश्न :– अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म स्वभाव से देशघाति कर्म हैं तो इनमें क्षयोपशम कैसे घटित होगा? क्योंकि क्षयोपशम की परिभाषा में सर्वघाति स्पर्धकों की भूमिका होती है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :– आपको शंका होना स्वाभाविक है। इस विषम संबंधी जिनवाणी का कथन इस प्रकार है –

केवलज्ञानावरण को छोड़कर चारों ज्ञानावरण कर्म देशघाति है। मात्र एक केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाति है। चारों ज्ञानावरण कर्म देशघाति होने पर भी इन चारों ज्ञानावरण कर्म में स्पर्धक दो प्रकार के हैं – १. सर्वघाति स्पर्धक और देशघाति स्पर्धक। इस कारण मतिज्ञानावरणादि चारों आवरण कर्म स्वभाव से देशघाति होने पर भी इनमें दो प्रकार के स्पर्धक (देशघाति-सर्वघाति स्पर्धक) होने से क्षयोपशम घटित होता है। जैसे मतिज्ञानावरणादि चारों घाति कर्मों के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय भविष्य काल में उदय आने योग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम एवं देशघाति स्पर्धकों का उदय – इन तीन रूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। इसप्रकार का क्षयोपशमरूप कार्य चारों ज्ञानावरण कर्म में होता है (अनेक प्रकार की अनुभाग शक्ति से युक्त कर्मों के समूह को स्पर्धक कहते हैं)।

२०. प्रश्न :– प्रारंभ के चार ज्ञानावरण कर्म स्वभाव से देशघाति होने पर भी इन चारों ज्ञानावरणों में सर्वघाति एवं देशघाति स्पर्धक हैं, यह विषय भी हमें ज्ञात होना चाहिए। जिनमें सर्वघाति एवं देशघाति स्पर्धक होते हैं, उनमें ही कर्म का क्षयोपशमरूप अवस्था बन सकती है अन्य स्थान पर नहीं। किसी को मतिज्ञानावरण एवं श्रुतज्ञानावरण के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदय ही रहेगा तो क्या होगा?

उत्तर :– यदि दोनों ज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय ही रहेगा तो ज्ञान का सर्वथा अभाव ही होगा अर्थात् जीव, जड़ हो जायेगा।

किसी भी जीव को दोनों (मतिज्ञानावरण + श्रुतज्ञानावरण) ज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय हो, ऐसा नहीं होता। अति अल्प मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के धारक लब्ध अपर्याप्तक निगोदिया जीवों को भी इन दोनों ज्ञानावरणों का क्षयोपशम ही रहता है। **अर्थात् कर्म में जितनी मात्रा में शक्ति है, उतनी मात्रा में उदय में आकर फल देने का कार्य नहीं होता।**

२१. प्रश्न :– कर्म में जितनी घातक शक्ति है, उतनी व्यक्त नहीं होती, यह विषय घाति कर्मों में तो लागू हो सकता है; लेकिन अघाति कर्मों में कैसा होता है?

उत्तर :– अघातिकर्मों में क्षयोपशम नहीं होता है। अघाति कर्म तो बाह्य संयोग में निमित्त हैं। उनके निमित्त के अनुसार जिन पदार्थों का संयोग-वियोग होता है, वह होता रहेगा; उससे जीव को कुछ लाभ-हानि नहीं है। जीव तो बाह्य सभी परद्रव्यों का एवं उनकी पर्यायों का तो सर्वथा अकर्ता ही है अर्थात् मात्र ज्ञाता ही है।

२२. प्रश्न :– उदयकरण नही मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेगी?

उत्तर :– १. जिनेन्द्र कथित आगम में जीव के पाँच भाव स्वतत्त्व कहे हैं। उनमें चौथे क्रमांक का औदयिकभाव जीव का एक स्वतत्त्व है उसका अभाव मानना पड़ेगा। औदयिकभाव में कारण उदयकरण है।

२. प्रत्यक्ष को नहीं मानने का प्रसंग उपस्थित होगा; क्योंकि क्रोधादि औदयिक भाव होते हैं, यह देखने में एवं वेदन में भी आते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष को न मानने का अक्षम्य अपराध होगा।

३. उदयरूप करण को सभी स्वीकार करेंगे तो ही उदयकरण का अस्तित्व रहेगा; ऐसा तो स्वरूप नहीं है। उदयकरण तो अपने कारण से अनादिकाल से है। उसका कार्य दुनिया में सर्वत्र बड़े पैमाने पर देखने को मिल रहा है। कोई विशेष क्रोधादि कषाय करते हुए दुनियाँ में प्रसिद्धि को भी प्राप्त होते हैं। कोई अत्यन्त मंदकषायरूप जीवन बिताते हुए स्पष्ट देखने में आते हैं। यह सब कार्य उदयकरण की हीनाधिकता के कारण होते हैं।

४. प्रथमानुयोग में तीव्र कषायी जीव नरक में जाते हैं। मंदकषायी जीव स्वर्ग में जाते हैं और जो जीव अपने ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मा में रमन करते हैं वे मोक्ष में जाते हैं; इसको सिद्ध करने वाली अनेक कहानियाँ पाई जाती हैं। इन कहानियों से भी औदयिक परिणामों का निर्णय होता है। इसलिए उदयकरण मानना चाहिए।

५. उदयकरणरूप कारण का कार्य चतुर्गति एवं ८४ लाख योनियों में अनादि से परिभ्रमणरूप यह संसार ही सिद्ध नहीं होगा। जो संसार (मोह, राग, द्वेषरूप दुखद अवस्था) सभी के अनुभव में आ रहा है।

६. अरहन्त अवस्था में मूक केवली, उपसर्ग केवली, छोटी-बड़ी अवगाहना, वर्णादि में भेद, आयु में हीनाधिकता आदि उदयकरण से ही सिद्ध होते हैं।

७. दुःखरूप संसार सिद्ध नहीं होगा तो मुक्त अवस्था भी कहाँ से सिद्ध होगी? उदयकरण नहीं मानने से इसप्रकार आगम प्रमाण से बाधा आयेगी।

२३. प्रश्न : क्या उदय के अन्य प्रकार से भी भेद हैं?

उत्तर – हाँ, हैं। दो भेद हैं – स्वमुख-उदय, परमुख-उदय।

२४. प्रश्न : स्वमुख उदय किसे कहते हैं?

उत्तर : विवक्षित प्रकृति का स्वरूप से ही उदय होना स्वमुख से उदय है। जैसे – आयुकर्म आदि सभी मूल प्रकृतियों का उदय।

२५. प्रश्न : परमुख उदय किसे कहते हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परस्पर संक्रमण योग्य प्रकृतियों में स्तुबिक संक्रमण आदि पूर्वक उनका उदय होना, परमुख से उदय है। जैसे – तिर्यंचादि गतिनामकर्म प्रकृतियों का मनुष्य गतिनाम कर्मरूप से उदय।

२६. प्रश्न : क्या कर्म के उदयकरण का उपयोग किसी ग्रन्थकर्ता आचार्य महाराज ने किसी शास्त्र में अध्यात्म पोषण के लिए अर्थात् आत्मा के अकर्तापन को सिद्ध करने के लिए भी किया है?

उत्तर : हाँ, आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने ही ग्रन्थाधिराज समयसार शास्त्र के बंधाधिकार में अनेक स्थान पर उदयकरण का अध्यात्म पोषण के लिये अत्यन्त सफलता पूर्वक उपयोग किया है। समयसार शास्त्र के टीकाकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र एवं आचार्य श्री जयसेन महाराज ने भी अपनी संस्कृत टीका आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति में उसी को स्पष्ट किया है।

सब गाथाएँ एवं पूर्ण टीका का उद्धरण देने से यह पुस्तक विशालकाय हो जायेगी; इसलिए हम यहाँ मात्र गाथाओं का हिन्दी अर्थ ही दे रहे हैं; जिससे शंका का समाधान हो।

"जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू परजीवों को आयुकर्म तो देता नहीं है; फिर तूने उनका जीवन कैसे दिया?[१]

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं है; फिर उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया?

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है; तो तूने उन्हें सुखी-दुःखी कैसे किया?[१]

१. गाथा समयसार, पृष्ठ ७५, गाथा-२५१ २. गाथा समयसार, पृष्ठ७६, गाथा-२५४

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे दुःखी कैसे किया?[१]

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया?[२]''

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने मात्र दो ही कलश काव्य में इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट किया है; जिनका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है -

''इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुःख व सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं। कोई दूसरा पुरुष किसी दूसरे पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुःख को करता है - ऐसी मान्यता अज्ञान है।

इस अज्ञान के कारण जो पुरुष एक पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुःख को दूसरे पुरुष के द्वारा किये हुए मानते हैं, जानते हैं; पर कर्तृत्व के इच्छुक वे पुरुष अहंकार से भरे हुए हैं और आत्मघाती मिथ्यादृष्टि हैं।[४]''

इस तरह और भी अनेक आचार्यों ने उदयकरण का उपयोग अध्यात्म के पोषण के लिए किया है।

उदयकरण के संबंध में **ब्र. जिनेन्द्र वर्णीजी** के कथन का विषय समझने के लिए विशेष उपयोगी होने से आगे दे रहे हैं -

''निष्कर्ष यह है कि प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध कर्म बंधता है और एक ही समयप्रबद्ध उदय में आता है। एक समय में बंधा द्रव्य अनेक समयों में उदय में आता है। तथैव एक समय में उदय में आने वाला द्रव्य अनेक समयों में बंधा हुआ होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है

१-२. गाथा समयसार, पृष्ठ७६, गाथा-२५५, २५६

४. समयसार कलश - १६८, १६९, पृष्ठ ३७४

कि **वर्तमान एक समय में प्राप्त जो सुख-दुःख आदिरूप फल है, वह किसी एक समय में बंधे विवक्षित कर्म का फल नहीं कहा जा सकता; बल्कि संख्यातीत काल में बंधे अनेक कर्मों का मिश्रित एक रस होता है। फिर भी उस एक रस में मुख्यता उसी निषेक की होती है,** जिसका अनुभाग सर्वाधिक होता है।[१]''

बंध और उदय की समानता-असमानता कहाँ-कहाँ हैं -

बन्ध के अनुसार डिग्री टु डिग्री उदय नहीं होता; क्योंकि बन्ध और उदय के बीच में सत्ता की एक बहुत चौड़ी और बड़ी खाई है, जिसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं।

जैसा कर्म बंधा है, वैसा का वैसा ही उदय में आए, ऐसा कोई नियम नहीं है, सत्ता में रहते हुए उस बद्ध कर्म को अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता है।

बन्ध और उदय की पूर्वोक्त व्याप्ति सुनकर आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक को घबराना नहीं चाहिए। शेष सात करणों में से उद्वर्तन (उत्कर्षण), अपवर्तन (अपकर्षण), संक्रमण, उदीरणा और उपशमन, ये पाँच करण उसकी सहायता के लिए हरदम तैयार हैं।

उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा और उपशमन ही वस्तुतः ऐसी परिवर्तनीय अवस्थायें (करण) हैं, जिसमें से सत्तागत कर्मों को गुजरना पड़ता है। अगर साधक लक्ष्य की दिशा में डटकर परिवर्तन के लिए कटिबद्ध हो जाए तो कर्मों की निर्जरा और क्षय होते देर नहीं लगेगी।[२]''

इसप्रकार उदयकरण के माध्यम से जीव ही बलवान है, कर्म नहीं; इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और उदयकरण का स्वरूप भी स्पष्ट किया।

१. कर्मसिद्धान्त, ब्र. जिनेन्द्र वर्णी पृ. ९६, ९७ से भावग्रहण

२. कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ९३

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब यहाँ उदयकरण के विषय को समझने के लिए पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका शास्त्र के चूलिका अधिकार का उदयकरण का पूर्ण भाग दिया है।

कर्म की उदयकरण अवस्था कहते हैं –

''जहाँ कर्म अपनी स्थिति पूरी कर, फल देकर खिरने के सन्मुख हो, उसे **उदय** कहते हैं। **वह उदय भी चार प्रकार का है** - प्रदेश उदय, प्रकृति उदय, स्थिति उदय और अनुभाग उदय।

वहाँ भी **जीव के परिणामों का निमित्त पाकर** फल देकर या बिना फल दिये ही कर्म परमाणुओं का खिर जाना, उसे **प्रदेश उदय** कहते हैं।

मूल से कर्म प्रकृतियों का खिर जाना, उसे **प्रकृति उदय** जानना।

स्थिति का क्षीण हो जाना, उसे **स्थिति उदय** कहते हैं।

जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टरूप अपना-अपना रस देकर खिर जाना, उसे **अनुभाग उदय** जानना।

एक-एक समय में एक-एक निषेक अपना-अपना फल देकर उदय को प्राप्त होता है और फल देकर खिर जाता है, उसी को **सविपाक निर्जरा कहते हैं।**

जो जीव सम्यक्त्व-चारित्रादि विशुद्धभावों रूप परिणमे, वहाँ एक-एक समय में असंख्यात-असंख्यात निषेकों का उदय आकर, बिना फल दिये ही प्रदेश उदय होकर खिरते हैं, उसको **अविपाक निर्जरा** कहते हैं।

असंख्यात-असंख्यात समयप्रबद्ध का बंधा द्रव्य एक-एक निषेक में इकट्ठा होकर उदय में आता है। उस निषेक में सर्व ही शुभ-अशुभ कर्मों का सत्त्व है; परन्तु **जीव के गत्यादि भावों के अनुसार** मुख्यता, गौणता लिये शुभाशुभ कर्मों का उदय होता है।

जो जीव नरकगति में रहता है, वहाँ नरकगति भाव को प्रारंभ कर सर्व नरकगति संबंधी अति संक्लेश भावोंरूप आत्मा परिणमता है। वहाँ असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की तो मुख्यता है और सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों की अत्यन्त गौणता है।

जो जीव देवगति में है, वहाँ देवगतिभाव को प्रारम्भ कर सभी देवगति संबंधी मंदकषायादि रूप भावों से युक्त होता है; वहाँ सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता है तथा असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की अत्यन्त गौणता है।

जो जीव तिर्यंचगति में है, वहाँ तिर्यंचगतिभाव से प्रारंभ कर सभी तिर्यंच सम्बन्धी भावरूप परिणमता है, वहाँ अधिक काल तक तो असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की मुख्यता है और थोड़े काल तक किसी समय किंचित् अनुभाग वाले सातावेदनीय आदि **शुभकर्मों के उदय की मुख्यता होती है।**

जो जीव मनुष्यगति में है, वहाँ मनुष्यगतिरूप भाव से प्रारम्भ कर सभी मनुष्यगति संबंधी भावोंरूप परिणमता है। वहाँ उदय को प्राप्त हुए जो निषेक, उनमें अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक हो तो असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की मुख्यता रहती है, अशुभ कर्मों का उदय होता है और **शुभकर्मों का प्रदेश उदय होता है।**

यदि उदयरूप निषेक में शुभकर्मों का अनुभाग अधिक हो तो सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता होती है। शुभकर्मों

का उदय होता है और असातावेदनीय अघातिया अशुभ कर्मों का प्रदेश उदय होता है तथा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का यथायोग्य उदय होता है।

शुभलेश्यादि विशुद्ध भावों रूप परिणमित जीव के सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता भी होती है या असातावेदनीय आदि अशुभकर्मों की भी अत्यन्त अनुभाग के जोर से मुख्यता हो तो कुछ अनुभाग क्षीण होकर उदय को प्राप्त होते हैं और सातावेदनीय आदि शुभकर्मों का अनुभाग अधिक होकर उदय को प्राप्त होता है।

तथा कदाचित् **अत्यन्त विशुद्धभावरूप परिणमता है** तो उस जीव के असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों का सातावेदनीय आदि शुभकर्मोंरूप परिणमन हो जाता है अथवा **प्रदेश उदय होकर खिर जाता है।**

कृष्णादि अशुभ लेश्यादि अशुभ भावोंरूप परिणमते हुए जीव के असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की मुख्यता हो या सातावेदनीय आदि शुभकर्मों की भी अत्यन्त अनुभाग के जोर की मुख्यता हो तो कुछ अनुभाग क्षीण होकर उदय को प्राप्त होते हैं और असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होकर उदय को प्राप्त होते हैं।

कदाचित् अत्यन्त संक्लेश भावरूप परिणमते हुए जीव के सातावेदनीय आदि का अशुभकर्मोंरूप होकर उदय आता है अथवा प्रदेश उदय आकर खिर जाते हैं, ऐसी अनेक प्रकार कर्मों की उदय अवस्था भी जीवभावों का निमित्त पाकर होती है।''

●

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :– उदय किसे कहते हैं?

उत्तर :– स्थिति पूरी होने पर कर्म के फल देने को उदय कहते हैं।

२. प्रश्न :– उदय के कितने भेद हैं?

उत्तर :– चार भेद हैं – प्रकृति उदय, प्रदेश उदय, स्थिति उदय और अनुभाग उदय।

मूल प्रकृति अथवा उत्तर प्रकृति का उदय आना **प्रकृति उदय** है। उदय रूप प्रकृति के परमाणुओं का फलोन्मुख होना **प्रदेश उदय** है, स्थिति का उदय होना **स्थिति उदय** है और अनुभाग का उदय होना **अनुभाग उदय** है।

३. प्रश्न :– कर्मों की उदय योग्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?

उत्तर :– ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की क्रम से ज्ञानावरण कर्म ५ + दर्शनावरण कर्म की ९ + वेदनीय कर्म की २ + मोहनीय कर्म की २८ + आयुकर्म की ४ + नामकर्म की ६७ + गोत्रकर्म की २ + अंतराय कर्म की ५ = १२२ प्रकृतियाँ उदय योग्य होती हैं।

४. प्रश्न : उदयकरण का स्वरूप क्या है?

१. कर्म अपने फलदानकाल में **'उदय'** संज्ञा को प्राप्त होता है।

२. जीव को फल देने रूप अवस्था विशेष से युक्त कर्म स्कन्ध 'उदय' इस संज्ञा से व्यवहृत होता है।

३. जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षणादि प्रयोग बिना स्थिति–क्षय को प्राप्त होकर अपना–अपना फल देते हैं, उन कर्मस्कन्धों की 'उदय' यह संज्ञा है। **(धवला ६/पृष्ठ–२१३)**

४. यथाकाल उत्पन्न हुए कर्म के विपाक का नाम 'कर्मोदय' है।

५. कर्मोदय का नाम **'उदय'** है। **(ज. धवला १०/२)**

६. **कर्मफल का वेदन उदय कहलाता है।**

७. कर्मों का अपने काल के आने पर फल देने रूप होकर खिरने को सन्मुख होना, सो **'उदय'** है। **लब्धिसार; पीठिका (फूलचन्दजी)**

८. एक समय में एक उदययोग्य निषेक ही उदय में आता है, अतः उस उदीयमान निषेक के उदय में आकर **फल देने पर** सत्तारूप स्थिति में से एक समय घटता है, अतः एक समय मात्र स्थिति का उदय प्रति समय आता है; यह सामान्य कथन है।

९. कर्मोदय के समय में ही अनुभाग का उदय होना **अनुभाग-उदय** है।

१०. प्रत्येक समय में उदय आने योग्य परमाणुओं में अर्थात् एक स्थिति निषेक में अनुभाग सम्बन्धी अविभाग प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणाएँ व स्पर्धक; सभी होते हैं।

११. कर्मोदय के समय में उदीयमान एक निषेक में जितने परमाणु का उदय होता है, उसे **प्रदेश उदय** कहते हैं।

५. प्रश्न : उदय का कार्य क्या है?

उत्तर : १. सातावेदनीय को सकल कर्मों में **शुभ अर्थात् प्रशस्ततम** कर्म माना है। **(ध. १२/पृ. ४५–४६)**

२. यह प्राणी रूपवान् हो या ना हो, परन्तु जब लोगों को प्यारा लगता है तो समझना चाहिए कि उसके **सुभग** नामकर्म का उदय है।[१]

३. असाता वेदनीय कर्म के तीव्र उदय व उदीरणा से जीव को नियम से **भूख** लगती है। **(गो. जी. १३५)**

४. खाये गये अन्नपान को पचाने का कारण, तैजसशरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न तैजसशरीर भी है। **(ध. १४/३२८)**

५. साधु आदि के लिए योग्य दानादि देने में बाधा आने पर समझना चाहिए कि उस समय जीव के **दानान्तराय कर्म का उदय** है।

६. बाह्य कारणों के होते हुए लोभ कषाय के तीव्र उदय से (एवं उदीरणा से) जीव को **परिग्रह की इच्छा उत्पन्न होती है।**

७. यदि कोई जीव दुःखी है तो निश्चित है कि उसके **असाता वेदनीय कर्म का उदय है।**

८. सुख (इन्द्रियसुख) का अनुभव (मोह के उदय होने पर ही) **साता वेदनीय कर्म के उदय में** ही सम्भव है।

६. प्रश्न : उदय संबन्धी नियम स्पष्ट करे?

उत्तर – १. कुल १४८ कर्मप्रकृतियों में से 122 **कर्मप्रकृति उदय योग्य होती हैं।** यह बात अभेद-विवक्षा की है, भेद विवक्षा की अपेक्षा तो १४८ कर्मप्रकृतियाँ ही उदय योग्य हैं।

२. सकल प्रकृतियों में से २६ **ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ** हैं – ५ ज्ञानावरण की, ४ दर्शनावरण की (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण), ५ अन्तराय की तथा १२ नामकर्म की प्रकृतियाँ (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, निर्माण, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, तैजस व कार्माण।)

४. **मूल प्रकृतियों का तो स्वमुखेन ही उदय होता है।**

५. उत्तर प्रकृतियों का स्वमुख तथा परमुख उदय भी सम्भव हैं।

६. विवक्षित सर्वघाति के उदय के साथ उसी के देशघाति का उदय बन जाता है; लेकिन सर्वथा **देशघाति के उदय के साथ सर्वघाति का उदय नहीं बनता। उदाहरण हास्यादि नौ नोकषायें।**

७. एक जीव के एक भव में एक ही गति, एक ही आनुपूर्वी तथा एक ही आयु का उदय सम्भव है। ऐसी और भी कई प्रकृतियाँ हैं। जैसे – जाति, शरीर, अंगोपांग इत्यादि।

८. उच्च गोत्र का उदय मनुष्य और देवों के ही सम्भव है।

९. **स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं का उदय** नर-तिर्यंच के ही सम्भव है, अन्य के नहीं।

१०. मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्वी के ही होता है।
प्रत्येक मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का वेदन करता है।
(धवला १५/२८५,२८६)

११. सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्मिथ्यात्वी के ही होता है।
इसका वेदन प्रत्येक सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

१२. सम्यक्त्व प्रकृति का उदय चौथे से सातवें तक ही सम्भव है।

१३. इस सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन प्रत्येक क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि करता है। **(गुणस्थान ४,५,६,७)**

१४. ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण व ५ अन्तराय इन १४ प्रकृतियों के वेदक सभी जीव छद्मस्थ होते हैं।

१५. केवली के असातावेदनीय का भी उदय होता है, पर वह फलदायी नहीं होता; क्योंकि उनके मोह परिणाम और मोहकर्म का उदय नहीं है।

१६. केवली के असाता के उदय के काल में सुखोत्पादक साता भी नियम से उदय को प्राप्त होती है।

१७. **संसारी जीवों के तो साता व असाता युगपत् उदय में नहीं आ सकते, ऐसा नियम है।**

१८. अपनी-अपनी गति में अपनी-अपनी आयु का उदय सम्भव है, अन्य का नहीं। यही बात सभी आयुओं के लिए समझनी चाहिए।

१९. **देवों में उच्चगोत्र का ही उदय होता है,** चाहे भवनत्रिक या किल्विषिक अथवा आभियोग्य जाति के देव क्यों न हों।

२०. नारकियों व तिर्यंचों में चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हो, सभी के द्रव्य से नीच गोत्र का ही उदय होता है।

२१. नरक में पुरुषवेद व स्त्रीवेद का उदय नहीं होता।

२२. **किसी भी भाववेद वाले के तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं होता।**

२३. तीर्थंकर नामकर्म का उदय सर्वज्ञ आत्माओं के ही सम्भव है।

२४. तीर्थंकर नामकर्म का उदय तेरहवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय तक रहता है।

२५. **एक कषाय के उदय के समय अन्य कषाय का उदय नहीं होता।**

२६. जिस जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध का उदय है, उसके उस क्रोध के उदयकाल में अन्य तीन प्रकार के क्रोधों (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा संज्ज्वलन क्रोध) का उदय है। अनन्तानुबन्धी आदि लोभ, मान, माया का नहीं है।

२७. परिहार विशुद्धिसंयम में अप्रशस्तवेद (स्त्रीवेद व नपुंसकवेद) तथा आहारकद्विक आहारक शरीर व आहारक शरीरादगोपादम का उदय नहीं होता।

२८. **धनवान मनुष्य भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा सुखी नहीं रह सकते, क्योंकि असाता की उदीरणा का उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है।**

७. प्रश्न : गुणस्थानानुसार उदयव्युच्छित्ति का कथन कीजिए?

उत्तर : १. मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्व गुणस्थान के बाद आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।

२. अनन्तानुबन्धी ४ का उदय सासादन के बाद आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।

३. मिश्र प्रकृति का उदय मिश्र (तृतीय) गुणस्थान में ही होता है, उसके बाद नहीं।

४. अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।

५. प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का पाँचवें से आगे प्रमत्तसंयत आदि के गुणस्थानों में उदय नहीं होता।

६. आहारक शरीर, आहारक शरीर-अंगोपांग का उदय छठे गुणस्थान में ही होता है, आगे नहीं।

८. **सम्यक्त्व प्रकृति का उदय सातवें गुणस्थान के बाद नहीं होता।**

९. हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, अरति व शोक – इन ६ का उदय आठवें गुणस्थान के बाद नहीं होता।

१०. तीन वेद, संज्वलन क्रोध, मान व माया कषाय का उदय नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।

११. सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभ का उदय दसवें सूक्ष्मलोभगुणस्थान में ही होता है, आगे नहीं।

१२. ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय तथा निद्रा, प्रचला का उदय बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के बाद नहीं रहता।

१३. जहाँ जिस प्रकृति का उदय होता है, वहीं उसका उदयकरण कहलाता है।

१४. **जीव को फल केवल 'उदयकरण' देता है।**

१५. **फल तो उदित (उदय प्राप्त) उदीयमान कर्म ही देता है।**

८. प्रश्न : उदय का कथन अधिक मात्रा में क्यों है?

उत्तर :- १. दस करणों में जीव को **उदयागत कर्म ही फल देता** है।

२. दुनिया में **कर्मोदय की चर्चा बहुत** है।

३. जीव को **विकार कर्मोदय के निमित्त से होता** है।

४. बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल **संयोगों का मिलना भी कर्मोदय से होता** है।

५. **उदय के बिना कर्म की चर्चा व्यर्थ** है।

६. संसारी जीव को **कर्मोदय में रस** है।

८. उदयावली उदय के बिना अन्य सकल करणों के लिए अयोग्य है।

९. उदयावली में मात्र स्वमुख या परमुख से उदय ही सम्भव है तथा नियत काल तक उसका सत्त्व भी है।

१०. वर्तमान समय से लेकर एक आवली मात्र काल में उदय आने योग्य निषेकों को उदयावली कहते हैं। ●

अधिकार चौथा

४ – उदीरणाकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

'उदीरणाकरण' विषय का विचार करते समय मेरे मन में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते गये; उनका उत्तर देने का मैंने यथाशक्ति प्रयास किया है।

१. प्रश्न :– यदि कर्मों में उदीरणाकरण हम नहीं मानेंगे तो क्या बिगड़ेगा?

उत्तर :– आप अपनी ओर से कुछ भी मानने न मानने के लिए स्वतंत्र हो। अपने को जिनागम तथा जिनेन्द्र भगवान का श्रद्धावान कहते–मानते हुए यह बात नहीं हो सकती।

जिनेन्द्र भगवान की अश्रद्धा से गृहीत मिथ्यात्व होगा और भी स्पष्ट और सूक्ष्मता से कहना हो तो ७० कोडाकोडी सागर का मिथ्यात्व कर्म का नया स्थिति + अनुभाग बंध होगा।

हाँ, परीक्षा करके सत्य का स्वीकार करने की भावना से मन में प्रश्न उत्पन्न होते हैं तो स्वागत योग्य है। परीक्षा तो करना ही चाहिए।

कर्म के उदीरणा का कार्य समझदार, शास्त्राभ्यासी एवं चतुर मनुष्य को अनुमान से भी समझ में आ सकता है।

२. प्रश्न :– उदीरणा का कार्य अनुमान से कैसे समझ में आता है?

उत्तर :– कर्म के उदीरणा का विषय समझाने के पहले ही – कर्म है, कर्म का उदय अर्थात् कर्मफल है, यह संक्षेप में समझाने का प्रयास करते हैं।

हम दुनियाँ में करोड़ों–अरबों आदमियों को देखते हैं। उनमें ज्ञान तथा बाह्य वैभव की अपेक्षा भेद देखते–जानते हैं। करोड़ों आदमियों को छोड़ दो, सगे अथवा जुड़वा भाई हों तो उनमें भी ज्ञान, शरीर का रूप आदि में नियम से भेद स्पष्ट जानने में आता है। इससे भी हमें जीवों को कर्म का बंध है, कर्म का उदय है, कर्मोदय से जीवों को अनुकूल–प्रतिकूल फल प्राप्त होता है। ये सर्व विषय समझ में आ सकते हैं। दुनियाँ में ऐसा कोई कर्त्ता–धर्त्ता भगवान तो है नहीं, जो ऐसा भेद–भाव करने/रखने का काम करेगा।

बचपन में जो अज्ञानी एवं दरिद्री रहता है, वह बालक, युवा अवस्था में ज्ञानी व धनवान हो जाता है। युवा अवस्था में ज्ञानी व धनवान रहनेवाला वृद्धावस्था में पागल एवं दरिद्री हो जाता है। यह सब परिवर्तन कर्म के उदय का कार्य है।

सामान्य आदमी भी यह स्वीकार करता है कि दुनियाँ में पाप एवं पुण्य कर्म हैं तथा पाप एवं पुण्य का कर्म फल जीवों को – मनुष्य, पशु आदि सबको मिलता ही रहता है।

यदि मनुष्य में पाप एवं पुण्य का फल नहीं होता तो एक मनुष्य मालिक बन जाता है और दूसरा उसका नौकर होकर रहता है। एक आदमी को जन्म से दवाई खाना अनिवार्य रहता है और दूसरे का जन्म से मरण तक दवाई के साथ कुछ संबंध ही नहीं आता।

इन दिनों में पशुओं का – उनमें भी विशेष रूप से कुत्ते का भी पुण्य स्पष्ट समझ में आता है। मैडम कुत्ते को संभालती है और मैडम के पुत्र को नौकरानी। जागरूकता से दुनियाँ को देखेंगे – जानेंगे तो सब समझ में आता है।

इस तरह हमने यह जाना कि दुनियाँ में पाप है, पाप का फल है, जो जीव को मिलता है। पुण्य है और पुण्य का फल भी प्रायः सभी लोग भोगते हैं। इस तरह कर्म के उदय को हमने जानने का प्रयास किया।

अब कर्म के उदीरणा के संबंध में चर्चा करेंगे – सही देखा जाय तो उदीरणा भी एक प्रकार से उदय ही है। भेद मात्र इतना ही है कि **जो कर्म यथाकाल फल देता है, उसे उदय कहते हैं और जो कर्म अयथाकाल उदयकाल के पहले फल देता है, उसे उदीरणा कहते हैं।**

विवक्षित कर्म उदयरूप से फल न देकर उदीरणारूप से ही फल देंगे। यह कार्य कर्म बंधने के पहले ही नियत होता है।

सामान्यरूप से सोचा जाय/जिनवाणी के आधार से विचार किया जाय तो कर्म के उदय के साथ-साथ जीव के भावों के निमित्त से कर्मों की उदीरणा भी हीनाधिक मात्रा में चलती ही रहती है।

३. प्रश्न :– उदीरणा कब स्पष्ट रूप से समझ में आती है?

उत्तर :– जब क्रोधादि कषायों में अथवा हास्यादि नोकषायों में अति-अति तीव्रता कदाचित् अनुभव में आती है। दुनियाँ को भी यह स्पष्ट देखने में आती है। तब समझना चाहिए कि इसे कषाय या नोकषाय की उदय के साथ-साथ कर्म की तीव्र उदीरणा भी हो रही है।

४. प्रश्न :– अभी स्पष्ट नहीं हुआ, उदाहरण से समझाओगे तो अच्छा रहेगा?

उत्तर :– क्रोधादि कषायों का उद्रेक होता रहे और बीच में समझाने के लिए मां, पिताजी, दादाजी, नानाजी अथवा कोई पूज्य पुरुष भी आवे तो भी कषाय शांत न हो, कषाय भड़कती रहे। बड़े पुरुषों का अपमान करने में भी संकोच न हो तो समझना चाहिए कि कषाय की उदीरणा हो रही है। विषय समझाने के लिए यह स्थूल दृष्टान्त है।

झगड़े के कारण मां, पिताजी आदि की हत्या करने में भी वह कषायी पुरुष पीछे नहीं रहता। इस तरह के कार्य कषायों के तीव्र उदय/उदीरणा में ही संभव है।

उदय तथा सामान्य उदीरणा में कषाय का सामान्य कार्य चलता है, जो अज्ञानी मनुष्य के जीवन में सहजरूप से होता रहता है।

५. प्रश्न :– नोकषाय के विशेष उदीरणा का क्या दृष्टान्त हो सकता है?

उत्तर :– स्वर्ग के देवों में ६ महीने तक लगातार हँसते रहने का कार्य हास्य नोकषाय के तीव्र उदय/उदीरणा का उदाहरण समझना चाहिए।

पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद के तीव्र उदीरणा के काल में पुरुष अथवा स्त्री अपनी जाति, धर्म, बड़े पुरुषों की आज्ञा, सभ्य समाज की सामान्य सदाचार की प्रवृत्तियाँ – इन सबका त्याग करने की प्रवृत्ति को वेद नोकषाय की तीव्र उदीरणा ही समझना चाहिए।

बाल स्त्री के साथ संबंध बनाने का भाव अथवा अयोग्य जाति, पशु आदि से संपर्क साधने का प्रयास – ये सभी परिणाम वेद कषाय के तीव्र उदय/उदीरणा के कार्य समझ लेना चाहिए।

६. प्रश्न :– आपने पिछले प्रश्न के उत्तर में कहा 'उदय के साथ उदीरणा हो रही है' और ऊपर के प्रश्न के उत्तर में लिखा 'उदय/उदीरणा का कार्य' को मात्र उदीरणा क्यों नहीं कहते?

उत्तर :– मात्र कर्म की उदीरणा हो रही है, ऐसा कभी नहीं होता। चलता उदीरणा हमेशा उदय के साथ ही होती है। यदि क्रोध कषाय का उदय चलता रहेगा, उसी समय क्रोध कषाय की उदीरणा होगी।

कभी ऐसा नहीं होगा कि उदय तो चल रहा है क्रोध कषाय का और मान कषाय की उदीरणा हो रही है।

जिस कषाय-नोकषाय का उदय रहेगा उसकी ही उदीरणा हो सकती है – होती है, ऐसा सामान्यतया समझना चाहिए। क्रोध के उदय के समय क्रोध की ही उदीरणा होगी। मान के उदय के समय मान की।

७. प्रश्न :– आपने तो उदीरणा कषाय-नोकषाय पर ही घटित करके दिखाया। मोहनीय कर्म को छोड़कर अन्य घातिकर्मों की भी उदीरणा होती है या नहीं होती; स्पष्ट करें।

उत्तर :– आठों कर्मों में उदय के साथ उदीरणा होती है, समझाने में आसानी रहे; इसलिए कषाय-नोकषायों पर ही (मोहनीय में भी चारित्र मोहनीय पर भी) घटित करके बताया है।

८. प्रश्न :– वेदनीय कर्म पर उदीरणा घटित करके बताइए?

उत्तर :– वेदनीय कर्म तो जीव को बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों के संयोग-वियोग में एवं सुख-दुख के वेदन में निमित्त कारण है।

जब साता वेदनीय (पुद्‌गल विपाकी का) का उदय हो तो अनायास-सहज ही अनेक अनुकूल पदार्थों का संयोग होता है।

यदि जीव के परिणामों का अनुकूल निमित्त मिले तब साता वेदनीय के ही तीव्र उदय, उदीरणा हों तो वांछित अनुकूल बाह्य संयोगों की उपलब्धि विशेष होती है।

इसीप्रकार असाता-वेदनीय पर घटित कर लिजिए।

९. प्रश्न :– उदय, उदीरणा करण को समझने से क्या लाभ है?

उत्तर :– १. उदय, उदीरणाकरण का स्वरूप समझने से उदय, उदीरणा के संबंध में तत्संबंधी अपने अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान होता है, आनन्द होता है।

२. किसी भी कर्म का किसी भी जीव के अनुकूल या प्रतिकूल उदय कभी भी आ सकता है – ऐसा जानकर वर्तमानकालीन संयोगों और संयोगी भावों के प्रति एकत्व-ममत्व भाव नष्ट होता है अथवा उनमें मंदता आती ही है अर्थात् कषायें मंद होती हैं।

३. अघाति कर्मों के निमित्त से प्राप्त अनुकूल संयोगों में अपनापन कम होता है अथवा भूमिका के अनुसार नष्ट भी हो सकता है।

४. पात्र जीवों को 'मैं भगवान आत्मा' संयोग एवं संयोगी-भावों से भिन्न हूँ – ऐसी प्रतीति की अनुकूलता बनती है।

५. विश्व के अनेक जीवों के विभिन्न प्रकार की उदय तथा उदीरणाजन्य अवस्थाओं को देखकर वैराग्य/विरक्ति उत्पन्न होती है। यदि पहले से ही वैराग्य/विरक्ति हो तो उदय,उदीरणा को समझने से उसकी वृद्धि होती है। इसप्रकार और भी अनेक लाभ हैं।

१०. प्रश्न :– यदि उदीरणाकरण नहीं होता तो क्या होता?

उत्तर :– १. यदि उदीरणाकरण नहीं होता तो साधक को कर्मों की निर्जरा के लिए जो विशिष्ट पुरुषार्थ पाया जाता है, प्राप्त होना संभव नहीं होगा।

वैसे देखा जाये तो अति कषायवान अथवा अभव्य जीव को भी उदीरणा तो होती ही रहती है; तथापि उनके लिए वह मोक्ष का कारण नहीं बनती।

२. यदि उदीरणाकरण न हो तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद फिर से मिथ्यात्व होने का भी काम नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय द्वितीय स्थिति में मिथ्यात्व की सत्ता होती है, उस सत्ता में से मिथ्यात्व की उदीरणा होने के कारण सम्यग्दृष्टि पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

३. यदि उदीरणाकरण नहीं होता तो ग्यारहवें गुणस्थान से जीव के नीचे के गुणस्थानों में गिरने का कार्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ द्वितीय स्थितिरूप सत्ता में पड़े हुए चारित्रमोहनीय की उदीरणा होने के कारण ही मुनिराज दसवें आदि गुणस्थानों में आते हैं।

पण्डित कैलाशचन्दजी (बनारस) ने उदीरणा का स्वरूप निम्नप्रकार समझाया है –

''जैसे – आम बेचने वाले सोचते हैं कि वृक्ष पर तो आम समय आने पर ही पकेंगे, इसलिए वे उन्हें जल्दी पकाने के लिए आम के पेड़ में लगे हुए कच्चे हरे आमों को ही तोड़ लेते हैं, और उन्हें भूसे, पराल (पुलाव) आदि में दबा देते हैं, जिससे वे जल्दी ही पक जाते हैं।

इसी प्रकार जिन कर्मों का परिपक्व (उदय) काल न होने पर भी उन्हें उदय में खींच कर लाया जाता है, अर्थात् समता, शमता, क्षमा, परीषहजय, उपसर्गसहन, तपश्चर्या, प्रायश्चित्त आदि द्वारा उन्हें (उन पूर्वबद्ध कर्मों को) उदय में आने से पूर्व ही भोग लिया जाता है, उदयावलि में नियत समय से पूर्व ही लाया जाता है, उसे उदीरणा कहते हैं।[1]'' ●

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री), पृ. २४

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब आगे उदीरणाकरण समझने के लिए पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका का उदीरणाकरण का समग्र विषय दे रहे हैं। दशकरणों में से पण्डितजी ने उदीरणाकरण को समझाने के लिए अधिक विस्तार के साथ लिखा है।

इस प्रकरण में बीच-बीच में जो हैडिंग दिये हैं, उतना ही हमने अपनी ओर से जोड़ा है। मूल विषय को यथावत् दिया है।

कर्मों की उदीरणाकरण अवस्था कहते हैं –

ऊपर के निषेकों का कर्मस्वरूप पुद्गलद्रव्य उदयावली में आकर प्राप्त होता है, उसे उदीरणा कहते हैं।

जो कर्म अधिक समय की स्थिति वाला होकर, निषेकरूप सत्ता में पड़ा था, वह जीव के भावों का निमित्त पाकर उदयरूप निषेक से आवली प्रमाण (स्थिति वाला) निषेक (रूप हुआ), उनको **उदयावली कहते हैं, उसमें (उदयावली में) आकर प्राप्त हो आवलीकाल पर्यंत उदयरूप होते हैं, उसे उदीरणा कहते हैं।**

उन कर्मों की उदीरणा योग्य जीव के भाव दो प्रकार के हैं –

एक तो अंतरंग तीव्र-मंद अनुभाग को लिये मोहादि कर्मों का उदय हो, उसके अनुसार तीव्र-मंद कषायादि भाव होते हैं , उससे कर्मों की उदीरणा होती है और एक बाह्यकर्मों की उदीरणा योग्य परद्रव्यरूप सामग्री का मिलना और उसका निमित्त पाकर उसी के अनुसार उदीरणा योग्य जीव के कषायभाव होना तो कर्मों की उदीरणा होती है।

वहाँ तीव्र अनुभाग को लिये हुए मोहादि (मोह) कर्मों का उदय हो, तब आत्मा का तीव्रकषाय रूप संक्लेश भाव होता है।

जब आत्मा कृष्णादि अशुभ लेश्यादि अशुभ भावों रूप प्रवर्तता है, तब सातावेदनीय आदि शुभकर्म का उदय मिट जाता है और असातावेदनीय आदि अशुभकर्म की उदीरणा होती है।

जब जैसे दुःख के कारणरूप पदार्थों का अवलंबन करता है, तब जीव सुखी से दुःखी हो जाता है, रागी से द्वेषी हो जाता है, द्वेषी से रागी हो जाता है ज्ञानी से अज्ञानी हो जाता है, संयमी से असंयमी हो जाता है।

क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी से अन्य-अन्य क्रोधादि कषाय रूप हो जाता है। प्रसन्नता से शोकाकुल हो जाता है, रतिभाव से अरतिभाव को प्राप्त हो जाता है, अवेदभाव से सवेदभाव को प्राप्त हो जाता है, क्षुधा-तृषादि रहित भाव से क्षुधा-तृषादि सहित भाव को प्राप्त होता है – इत्यादि उदीरणा होने से **कर्मों के पलटने से ही भावों का भी पलटना हो जाता है।**

भावों के बदलने से कर्म भी बदल जाते हैं, ऐसा कर्मों के उदय का और जीव के भावों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

तथा जहाँ मन्द अनुभाग को लिये मोहादि कर्मों का उदय हो, तब आत्मा के मन्दकषायरूप विशुद्धभाव होते हैं; तब **आत्मा शुक्लादि शुभ लेश्यादि शुभ भावों रूप परिणमता है, तब असाता-वेदनीय आदि अशुभकर्म का उदय नष्ट हो जाता है और सातावेदनीय आदि शुभकर्मों की उदीरणा हो उदय होता है।**

जैसे ही सुख के कारण रूप पदार्थों का अवलंबन करता है, तब जीव दुःखी से सुखी होता है, रागी से विरागी, अज्ञानी से ज्ञानी, असंयमी से संयमी हो जाता है। क्रोधादि अन्य कषायरूप हो जाता है। शोकभाव मिटकर हर्षभाव रूप हो जाता है, अरतिभाव से रतिभाव, सवेदभाव से अवेदभाव, क्षुधा-तृषादि सहित भाव से रहित भाव को प्राप्त होता है। उदीरणा होते ही उक्त सभी भाव बदल जाते हैं।

इसप्रकार तो अंतरंग में शुभ-अशुभकर्म का उदय होने पर शुभ-

अशुभ भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार शुभ-अशुभ कर्म की उदीरणा होती है।

जिस जीव के (जिस) कर्म की उदीरणा होकर उदय होता है, उसी के अनुसार जीव का भाव होता है।

शुभाशुभ कर्म की उदीरणा के कारण ऐसे बाह्य शुभाशुभ पदार्थ का निमित्त पाकर शुभाशुभ कर्म की उदीरणा हो उदय होता है, उसी के अनुसार जीव का भाव होता है।

१. ज्ञानावरण दर्शनावरण की उदीरणा –

☛ स्वयं ने शास्त्र पढ़े हैं या पढ़ाये हैं; उसका मद करने से, ☛ अन्य सम्यग्ज्ञानी पण्डितों से ईर्ष्या करने से कुपथ को ग्रहण करने से ☛ कुपथ का ग्रहण कर सम्यग्ज्ञानी से विवाद करने से ☛ अन्य को कुपथ का ग्रहण कराने के लिए हठ करने से ☛ जैन आम्नाय के विरुद्ध उपदेश देने से ☛ मिथ्या शास्त्र, काव्य, श्लोकादि बनाने से ☛ शास्त्र को पढ़ाने वाले उपाध्याय का अविनय करने से ☛ ज्ञान-चारित्र को ढकने या घात करने से ☛ अपने विद्यागुरु को छिपाने से ☛ यथार्थ को दोष लगाने से ☛ मूर्खों की संगति से ☛ अधिक विकथारूप प्रलाप करने से ☛ अधिक विकथासक्त होने से ☛ आलसी-प्रमादी होने से ☛ अधिक क्रोध-लोभादि कषायों के अभिनिवेश से ☛ अधिक हँसने से या रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि के अधिक अभिनिवेश से ☛ बहुत कामासक्त होने से ☛ बहुत आरम्भ करने से ☛ कामोद्दीपक आहार करने से ☛ अमलयुक्त नशायुक्त वस्तु के खाने इत्यादि **बाह्य कारणों से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होते हैं।**

तत्काल ज्ञान का नाश होता है या इन्हीं पूर्वोक्त बाह्य कारणों से दर्शनावरण कर्म की उदीरणा होती है।

२. निद्रा आदि की उदीरणा –

(इष्ट अर्थात् अनुकूल होना अभिप्रेत है, उसमें अभिप्रेत में उपयोग के जोड़ने से ☛ दही आदि निद्रा की कारणरूप वस्तुओं को खाने से ☛ निद्रा की कारणरूप सुख-शय्यादि सामग्री मिलने से ☛ निद्रा की इच्छा करके पैर पसारकर सो जाने से – पाँच निद्रा आदि दर्शनावरण कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होता है; तब सर्व **पदार्थों संबंधी सामान्य अवलोकन का अभाव होता है।**

३. असाता की उदीरणा –

दुःख-शोक के कारणरूप पदार्थों के देखने से, याद करने से ☛ दुःख-शोकादि के कारणरूप बाह्य पदार्थों का अपनी बुद्धिपूर्वक अपने से संबंध जोड़ने से असातावेदनीय कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त हों, तब जीव सुखी से दुःखी होता है।

४. साता की उदीरणा –

सुख के कारण इष्ट पदार्थों के देखने से ☛ (पंखा आदि से) हवादि करने से ☛ साता के उदय में अपनी बुद्धिपूर्वक अपने सुख के कारणरूप पदार्थों के संबंध करने से ☛ देव-गुरु-धर्मादि से संबंध करने से; या स्मरण, ध्यान, चिंतवन, जाप आदि करने से सातावेदनीय कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होता है, तब जीव दुःखी से सुखी होता है।

५. दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) की उदीरणा –

केवली देव-शास्त्र-गुरु, धर्म, चतुर्विध संघ और जीवादि तत्त्व-इनका स्वरूप जानने पर भी अन्यथा कहने से ☛ **कुगुरु-कुदेव, कुधर्म के धारक उनकी सराहना करने इत्यादि** से दर्शनमोह जो मिथ्यात्वकर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होता है, तब यह जीव तत्काल सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

६. चारित्र मोहनीय की उदीरणा –

क्रोधादि तेरह कषाय के बाह्य कारणरूप पदार्थों को याद करने से, दृष्टि से देखने पर, वाचक (कहने रूप) संबंध करने से, तेरह प्रकार भेद को लिये चारित्रमोहनीय नामक कर्म, उसके जिस-जिस भेद के कारणरूप पदार्थों का संबंध करने से, उसको उस-उस भेद (रूप कर्म) की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होती है, वहाँ उसी भाव रूप आत्मा परिणमता है।

क्रोध के कारण से ☛ अपने कार्य के बिगाड़ने वाले, अपने मानादि कषाय को भंग करने वाले, अपनी आज्ञा का लोप करने वाले इत्यादि अपने को **दुःखदायक पदार्थों को याद करने से, दृष्टिगोचर होने से, संबंध करने से तत्काल क्रोध नामक चारित्रमोह की उदीरणा हो, उसी समय जीव क्रोधभाव को प्राप्त होता है।**

वैसे ही ☛ मान के कारणरूप पदार्थों के संबंध से मान का ☛ माया के कारणरूप पदार्थों से माया का ☛ लोभ के कारण धनादि इष्ट सामग्री के संबंधादि होने से लोभ की उदीरणा होती है।

७. हास्यादि नोकषाय की उदीरणा –

हास्य के कारण नकली बहुरूपियादि, रति के कारण इष्ट स्त्री-पुत्र या इष्ट भोजनादि, पाँचों ही इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयादि देखने-जानने से ☛ अरति के कारण अनिष्ट स्त्री-पुत्रादि या अनिष्ट भोजनादि या पाँचों ही इन्द्रियों के अनिष्ट विषयादि देखने-जानने से हास्यादि की उदीरणा होती है।

शोक के कारण रूप पदार्थों से शोक की ☛ भय के कारण रूप पदार्थों से भय की ☛ ग्लानि के कारण दुर्गंधादि सूँघना, विष्टा आदि द्रव्य का - अप्रिय पदार्थों को देखने-जानने से जुगुप्सा की उदीरणा होती है।

रूपवान स्त्रियों के याद करने से या दृष्टिगोचर होने से या मन को चलायमान करने वाले संबंध से पुरुषवेद की उदीरणा हो जाती है।

रूपवान तरूण वस्त्र-भूषणादि से युक्त पुरुष को देखने से स्त्रीवेद की या स्त्री-पुरुष दोनों के संबंधादि से नपुंसकवेद की उदीरणा होती है।

☛ इत्यादि जिस-जिस चारित्रमोह कर्म के उदय के कारणभूत पदार्थों का संबंधादि हो, उस ही कर्म की उदीरणा होकर उदय आता है, उसी के अनुसार जीव के भावों की उत्पत्ति होती है।

८. आयु कर्म की उदीरणा –

भोजन-पानी आदि न मिलने से ☛ रोगादि होने पर औषधादि के प्रतिकारों के न मिलने से, अन्यथा मिलने से, अन्यथा क्रिया से ☛ प्रकृतिविरुद्ध भोजन-पानादि से ☛ विषादि खाने से ☛ शस्त्रादि के घात से ☛ जल-अग्नि आदि के संबंध से ☛ इत्यादि घात के अनेक कारणभूत पदार्थों के संबंध होने से, दृष्टिगोचर होने से, स्मरण होने से आयु कर्म की उदीरणा होकर मरण को प्राप्त होता है।

इसलिए इन पदार्थों का संबंधादि होने या न होने से जीव के वैसे ही उदीरणा योग्यभाव होते हैं। वहाँ आयुकर्म की उदीरणा होती है।

एवं जहाँ अनेक प्रकार घात के कारण मिलने पर या घात से ही जीव के आयुकर्म की उदीरणा होने योग्य भाव न हों तो उदीरणा नहीं होती; तब अनेक घातादि होने पर भी मरण नहीं होता।

९. नाम-गोत्र कर्म की उदीरणा –

इसीप्रकार नामकर्म की, गोत्रकर्म की उदीरणा के बाह्य कारण मिलते हैं और नामकर्म की या गोत्रकर्म की उदीरणा होती है।

१०. अंतराय कर्म की उदीरणा –

अन्तराय कर्म की उदीरणा के बाह्य कारण मिलने से अंतरायकर्म की उदीरणा होती है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यरूप कार्य होते हुए भयादि के कारणभूत पदार्थों का निमित्त पाकर दान आदिक पाँच भावों से जीव के परिणाम घृणायुक्त होते हैं, तब उन भावों का निमित्त पाकर दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और

वीर्यांतराय – इन पांच प्रकार अंतराय कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होते हैं। वहाँ दानादि कार्यों का अभाव होता है।

जिस दानांतराय आदि कर्मों की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होते हैं, उन-उन दानादि कार्यों का ही अभाव होता है। जो सुख-दुःख के कारण बाह्य पदार्थ अबुद्धिपूर्वक (बिना प्रयत्न के) दुर्निवार अपने आप ही प्राप्त होते हैं, वहाँ तो अंतरायकर्म का जघन्य उदय जानना और जहाँ सुख-दुःख के कारणभूत पदार्थों का बुद्धिपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक) संबंध होने से जो कार्य होता है, उसे उदीरणा होकर कर्म का उदय आया जानना।

इसलिए जैसा कर्म का उदय होता है वैसे ही बाह्य पदार्थों का संबंध होता है, वह तो कर्म की स्थिति पूर्ण होकर कर्म का उदय आया जानना। जहाँ पहले बाह्य पदार्थों का निमित्त होने से कर्म का उदय हो, उसे कर्म की उदीरणा होकर उदय आया जानना।

जैसे – पहले पुरुषवेद का उदय होने से कामासक्त होकर स्त्री से संबंध करना, वह तो वेद के उदय से जानना। जो पहले ही स्त्री को देखकर विकारभाव होता है, उसे उदीरणा होकर वेद (कर्म) का उदय है। इसीप्रकार सब कर्मों की उदय-उदीरणा जानना।

तथा उदीरणा, उदय को प्राप्त कर्मों की होती है। जिस गति में जिन कर्मों का उदय पाया जाता है, उन्हीं कर्मों की उदीरणा होती है। जिन कर्मों का उदय नहीं पाया जाता, उन कर्मों की उदीरणा नहीं होती।

वेदनीय और आयु की उदीरणा तो छठे गुणस्थान पर्यन्त ही होती है। अन्य कर्मों की उदीरणा जहाँ तक अपना (उन-उन कर्मों का) उदय होता है, वहाँ तक ही होती है। ●

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. **प्रश्न : उदीरणाकरण का स्वरूप क्या है?**
उत्तर : अपक्व-पाचन को उदीरणा कहते हैं। **धवला १५/४३।**

२. **प्रश्न : उदय और उदीरणा में क्या अंतर है?**
उत्तर : 1. उदय यथाकाल होता है तथा उदीरणा अयथाकाल। उदय से उदीरणा में यह अन्तर है।
   २. उदीरणा में भी उदयवत फलदान की प्रधानता है। भेद यथाकाल अयथाकाल का है। **श्लोकवार्तिक २/३५ वार्तिक २।**
   ३. **उदयकृत परिणामों की अपेक्षा उदीरणा से जो परिणाम होते हैं, उनमें अधिक तीव्रता होती है।**
   ४. जो महान स्थिति व अनुभाग में अवस्थित कर्मस्कंध-अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जाते हैं, उन कर्मस्कन्धों की उदीरणा यह संज्ञा है। **(धवला ६, पृष्ठ-२१४)**
   ५. बंधावली के काल के बीतने पर अपकर्षण के द्वारा बद्ध द्रव्य को उदयावली में दिया जाता है, उस कर्मद्रव्य की उदीरणा संज्ञा है।

३. **प्रश्न : उदीरणा के कितने भेद हैं?**
उत्तर : उदीरणा के चार भेद हैं –
१. कर्म की प्रकृति की उदीरणा को **प्रकृति उदीरणा** कहते हैं।
२. कर्मप्रदेशों की उदीरणा को **प्रदेश उदीरणा** कहते हैं।
३. कर्म की स्थिति की उदीरणा को **स्थिति उदीरणा** कहते हैं।
४. कर्मानुभाग की उदीरणा को **अनुभाग उदीरणा** कहते हैं।
कर्मबंध होने के पश्चात् कर्मस्कन्ध आवली कालतक तो उदीरणा आदि के अयोग्य होने से **तदवस्थ** रहता है।

उदय–उदीरणा संबंधी विशेष

१. जहाँ–जहाँ जिस–जिस प्रकृति का उदय होता है, वहाँ–वहाँ उस–उस प्रकृति की उदीरणा होती है, अन्यत्र नहीं।
२. साता, असाता व मनुष्यायु; इन तीन का उदय तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक सम्भव है, परन्तु **इनकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है।**
३. ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण व ५ अन्तराय – इन १४ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है; परन्तु उदीरणा चरम समय से एक आवली पूर्व तक होती है, बाद में नहीं। (बारहवें गुणस्थान में मात्र आवली शेष रह जाने पर उदीरणा नहीं होती)।
४. स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं का इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने तक उदय होता है, उस पर्याप्ति पूर्णता के काल में उदीरणा नहीं होती है।
५. अन्तरकरण क्रिया के बाद प्रथम स्थिति में एक आवली शेष रहने पर उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।
६. दसवें गुणस्थान में अन्तिम आवली काल के शेष रहने पर संज्वलन लोभ का उदयमात्र होता है, उदीरणा नहीं।
७. उदयावली के बाहर के निषेकों को उदयावली के निषेकों में मिलाना अर्थात् जिस कर्म का उदयकाल नहीं आया, उस कर्म को उदय काल में ले आने का नाम उदीरणा है।
८. मरण के समय के अन्तिम आवली काल में अपनी–अपनी आयु का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।
९. क्षीणकषाय के काल में दो समयाधिक आवली शेष रहने तक निद्रा–प्रचला की उदय और उदीरणा दोनों होते हैं।

2. प्रश्न : उदीरणा के बारे में कुछ विशेष स्पष्ट करें –

१. देवों के उत्पत्ति समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक **सातावेदनीय, हास्य एवं रति की नियम से उदीरणा होती है, आगे के लिए अनिवार्यता का नियम नहीं है। अनियम से होती है।**
(इससे ज्ञात होता है कि देव उत्पत्तिकाल के प्रारम्भिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से प्रसन्न व सुखी रहते हैं।)
२. **नारकियों में उत्पत्तिकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक अरति, शोक व असाता की नियम से उदीरणा होती है।**
(इससे ज्ञात होता है कि नारकी नरक में उत्पन्न होने के प्रारम्भिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से शोकमय व दुःखी होते हैं।)
३. असाता, अरति व शोक का उदीरणा काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक ३३ सागर प्रमाण है।
(इससे ज्ञात होता है कि **सातवीं पृथ्वी के नारकियों में नारकी जीव पूर्ण आयु पर्यन्त दुःखी ही रहते हैं, एक पल भर भी अल्पसुखी भी नहीं रहते हैं।**
४. पूर्ण आयु पर्यन्त निरन्तर साता के उदय से सुखी रहें, दुःखांश न हो, ऐसा एक भी देव नहीं है। कारण यह कि उनके सुख दुर्लभ है, दुःख सुलभ है। (यहाँ इन्द्रियसुख ही विवक्षित है)।
५. तीर्थंकर नामकर्म का उदीरणाकाल जघन्य से भी वर्षपृथक्त्व है। (इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाले जीव तीर्थंकर बनकर कम–से–कम वर्षपृथक्त्व तक तो तीर्थंकर के रूप में संसार में रहते ही हैं; तदनन्तर मोक्ष पाते हैं)।
६. नरक में कदाचित् सब जीव साता के अनुदीरक हों, यह सम्भव है। (इससे ज्ञात होता है कि सकल पृथ्वियों के समस्त नारकी जीव (सब के सब) एक साथ दुःखी हों, वह क्षण संभव है।)
७. **नारकियों में साता का उदय व उदीरणा भी सम्भव है;** मात्र एक के नहीं युगपत् अनेक के भी। (अतः नारकियों में भी सुख लेश सम्भव है, यह निश्चित होता है)। **(धवला १५/७२)**

अधिकार पाँचवाँ

५ – उत्कर्षण एवं ६ – अपकर्षणकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :– उत्कर्षण एवं अपकर्षण करण समझने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर :– उक्त दोनों करणों (कर्म की अवस्था) को जानकर हमें अनेक लाभ हैं, जो इसप्रकार है –

१. उत्कर्षण एवं अपकर्षण करण को जानने से तत्संबंधी अज्ञान का नाश होता है तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है, यह तो सामान्य लाभ है।

२. सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो झलकता है, उसे जानने से सर्वज्ञ भगवान की/सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं गुरु की विशेष महिमा आती है।

३. दसों करणों का प्रकरण सूक्ष्म होने से इन्हें जानने के कारण अपनी बुद्धि भी सूक्ष्म विषयों को जानने के लिए समर्थ होती है।

४. **पूर्वबद्ध कर्मों में स्थिति-अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है तथा स्थिति-अनुभाग का घटना अपकर्षण है - यह समझने से प्रत्येक जीव पूर्वबद्ध कर्मों के संयोग से सहित ही है; ऐसा ज्ञान होता है।**

५. पूर्वबद्ध कर्मों में परिवर्तन होने में निमित्तरूप शुभाशुभ जीव के

परिणाम होते ही रहते हैं, ऐसा ज्ञान होता है।

६. परिणामों में परिवर्तन होता रहता है – इसका अर्थ अपने परिणामों की अस्थिरता/चंचलता भी हमें समझ में आती है।

७. परिणामों में परिवर्तन होने से ही जीव संसार से मुक्त अवस्था प्राप्त कर सकता है - ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होता है।

८. परिणामों में एवं कर्मों में प्रति समय फेरफार होते हुए भी (परिणामों की क्रमबद्धता में बाधा नहीं आती) मैं तो स्वभाव से इन सभी (शुभाशुभ तथा शुद्ध) परिणामों से भी सर्वदा भिन्न टंकोत्कीर्ण स्वभावी हूँ – ऐसी प्रतीति बराबर बनी रहती है। अन्य जीव भी स्वभाव से अबद्धस्पष्ट हैं – ऐसा ज्ञान होता है। अर्थात् **परिणामों से अपरिणामी का पता लगता है।**

९. परिणामों को जानते हुए भी श्रद्धा में अपरिणामी तत्त्व साधक के जीवन में ऊर्ध्व रहता है, इसका पता चलता है।

१०. शुभाशुभ परिणामों से बंधे हुए पुण्य–पाप कर्मों का मैं मात्र ज्ञाता हूँ, यह भाव जागृत होता है। पुण्य–पाप कर्म में समभाव उत्पन्न होता है।

११. ज्ञेय बननेवाले जीवों के परिणामों के भी हम ज्ञाता रह सकते हैं; इसकारण समता भाव जागृत होता है।

मात्र तात्कालिक औदयिक परिणामों से किसी भी मनुष्य/जीव को अच्छा–बुरा समझना अपराध है; ऐसी यथार्थ जानकारी होती है।

१२. जीव का परिणाम निमित्त है और पूर्वबद्ध कर्मों में उत्कर्षण एवं अपकर्षण होना नैमित्तिक कार्य है। – इसतरह स्वतंत्र निमित्त–नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान होता है।

यहाँ जीव का परिणाम तो जीव का कार्य है और कर्मों में होनेवाला कार्य कर्मों का है – दोनों अपने–अपने में स्वतंत्र है; तथापि दोनों में

काल प्रत्यासत्ति (काल की नजदीकता/समानता) है; इसकारण निमित्त-नैमित्तिक संबंध का स्वीकारना भी होता है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध में स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता को स्वीकारना ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो कर्म का उत्कर्षण-अपकर्षण कर्म (पुद्गल) की अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता से अपने-अपने काल में स्वयं से ही होता है। इस कर्म के उत्कर्षण-अपकर्षण रूप कार्य में जीव का अपनी ओर से कुछ कर्त्तव्य नहीं है।

२. प्रश्न :- उत्कर्षण-अपकर्षण नही मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेगी?

उत्तर :- जीव के परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्म में स्थिति-अनुभाग के बढ़ने का काम उत्कर्षण में होता है और स्थिति, अनुभाग के घटने का काम अपकर्षण में होता है।

१. पुण्य एवं पाप परिणामों में परिवर्तन का काम तो हमेशा सर्व जीवों में होता ही रहता है। परिणामों के परिवर्तन में कभी पुण्यरूप परिणामों में विशेष वृद्धि होती है और कभी पापरूप परिणाम भी एकदम अधिक तीव्ररूप होते हैं। परिणाम में तीव्रता आवे और उसके निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों में कुछ भी परिवर्तन न हो, यह कैसे हो सकता है? इसलिए उत्कर्षण-अपकर्षण कर्मों में होना सहज ही बनता है। कार्य सहज ही बनता है, उसे न मानने से कैसे काम चलेगा?

२. जैसे ऊपर हमने जीव के परिणामों के अनुसार कर्म में स्थिति एवं अनुभाग बढ़ने का काम सहज स्वीकारना चाहिए, यह देखा; तदनुसार मनुष्य के जीवन में बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में आमूल-चूल

परिवर्तन को देख सकते हैं। जैसे कोई मनुष्य राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि नेतृत्व पद पर हो, उस समय का बाह्य परिकर और मनुष्य का वह विशिष्ट पद का अभाव होने पर परिकर में होनेवाला बदल, यह सब को सहज समझ में आने लायक होता है। ऐसा अत्यन्त विशेष परिवर्तन पूर्वबद्ध कर्मों के उत्कर्षण अथवा अपकर्षण के बिना कैसे होगा?

३. गजकुमार को कुछ समय पहले तो ब्राह्मण कन्या के साथ शादी करने के परिणाम हुए थे और बाद में मुनि अवस्था का स्वीकार होना एवं मस्तक के जलने पर भी समता का परिणाम रहना - परिणामों में आमूलचूल परिवर्तन - इसमें यथायोग्य कर्म का निमित्तपना तो होगा ही।

सुभौम चक्रवर्ती को चक्रवर्तित्व अवस्था में होनेवाले परिणाम और नरक में जाने के बाद होनेवाले परिणाम और परिकर में होनेवाला परिवर्तन यह सब कर्म के निमित्त के बिना कैसे माना जा सकता है? इसलिए पूर्वबद्ध कर्म में उत्कर्षण तथा अपकर्षण होता है; यह मानना आवश्यक है।

ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी ने उत्कर्षण-अपकर्षण के संबंध में स्पष्ट लिखा है, उसे दे रहे हैं -

''उत्कर्षण-अपकर्षण स्वरूप और कार्य -

तात्पर्य यह कि बन्ध के समय कषायों की तीव्रता-मन्दता आदि के अनुसार स्थिति और अनुभाग होते हैं। कर्म से बंधी हुई स्थिति और अनुभाग में किसी तीव्र अध्यवसाय विशेष के द्वारा बढ़ाना उत्कर्षण (उद्वर्त्तना) है, इसके विपरीत उत्कर्षण की विरोधी अवस्था अपकर्षण है। **सम्यग्दर्शनादि से पूर्व-संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को क्षीण कर देना अपकर्षण है। इसका दूसरा नाम अपवर्त्तना है। उद्वर्त्तना**

के द्वारा कर्म स्थिति का दीर्घीकरण एवं रस का तीव्रीकरण होता है, जबकि अपवर्त्तना के द्वारा कर्मस्थिति का अल्पीकरण (स्थितिघात) और रस का मन्दीकरण (रसघात) होता है।

स्थिति का अपकर्षण हो जाने पर सत्ता में स्थित पूर्वबद्ध कर्म अपने समय से पहले ही उदय में आकर झड़ जाते हैं, तथा स्थिति का उत्कर्षण होने पर वे कर्म अपने नियतकाल का उल्लंघन करके बहुत काल पश्चात् उदय में आते हैं।

अपकर्षण तथा उत्कर्षण के द्वारा जिन-जिन और जितने कर्मों की स्थिति में अन्तर पड़ता है उन्हीं के उदयकाल में अन्तर पड़ता है। इनके अतिरिक्त जो अन्य कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यह अन्तर भी कोई छोटा-मोटा नहीं होता, प्रत्युत एक क्षण में करोड़ों-अरबों वर्षों की स्थिति घट-बढ़ जाती है।

जिस प्रकार स्थिति का अपकर्षण-उत्कर्षण होता है, उसी प्रकार अनुभाग का भी होता है। विशेषता केवल इतनी ही है कि स्थिति के अपकर्षण-उत्कर्षण द्वारा कर्मों के उदयकाल में अन्तर पड़ता है, जबकि अनुभाग के उत्कर्षण-अपकर्षण द्वारा उनकी फलदान-शक्ति में अन्तर पड़ता है।

अपकर्षण द्वारा तीव्रतम शक्ति वाले कर्म एक क्षण में मन्दतम हो जाते हैं, जबकि उत्कर्षण द्वारा मन्दतम शक्ति वाले संस्कार (कर्म) एक क्षण में तीव्रतम हो जाते हैं।[१]''

●

१. कर्म रहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १७२, १७३

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब आगे उत्कर्षण-अपकर्षण के संबंध में विशद जानकारी होवे; इस भावना से भावदीपिका शास्त्र का अंश दे रहे हैं।

कर्म की उत्कर्षण और अपकर्षणकरण अवस्था कहते हैं –

''जीव के भावों का निमित्त पाकर सत्ता में पड़े हुए जो ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म, उनकी स्थिति और अनुभाग का बढ़ जाना – अधिक हो जाना, उसे **उत्कर्षण** कहते हैं और उनका घट जाना – हीन हो जाना, उसे **अपकर्षण** कहते हैं।''

जब पीत-पद्म-शुक्ल लेश्यादि शुभभावोंरूप जीव परिणमता है, तब सातावेदनीय आदि शुभप्रकृतियों का स्थिति और अनुभाग का बहुत उत्कर्षण हो जाता है और ज्ञानावरणादि चार घातिया का और असातावेदनीय आदि अघातियारूप अशुभ प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग **अपकर्षण से अल्प हो जाता है।**

जब कृष्ण लेश्यादि अशुभ भावोंरूप जीव परिणमता है, तब ज्ञानावरणादि चार घातिया और असातावेदनीय आदि अघातियारूप अशुभ प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग उत्कर्षण से बढ़ जाता है। और सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग अपकर्षण से अल्प रह जाता है।

नीचे के निषेकों में जघन्यादि अल्प स्थिति-अनुभाग लिये हुए थे, जो ज्ञानावरण आदि कर्मत्वरूप शक्ति को लिये हुए कर्मरूप पुद्गल,

उनकी स्थिति-अनुभाग बढ़कर ऊपर के निषेकों में उत्कृष्टादि स्थिति-अनुभाग को लिये हुए हैं जो कर्म, उनके समान अधिक हो जाते हैं, **उसे उत्कर्षण कहते हैं।**

तथा ऊपर के निषेकों में उत्कृष्टादि अधिक स्थिति-अनुभाग लिये हुए जो कर्मस्वरूप पुद्गल, उनकी स्थिति-अनुभाग घट कर, नीचे के निषेकों में जघन्यादि स्थिति-अनुभाग सहित जो कर्म थे, उनके समान हीन हो जाना, **उसे अपकर्षण कहते हैं।** ऐसा उत्कर्षण-अपकर्षण का स्वरूप जानना।

●

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : उत्कर्षणकरण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : १. कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना उत्कर्षण है।

२. **नूतन कर्म के बंध के समय** पूर्व कर्म की स्थिति में से कर्म परमाणुओं की स्थिति-अनुभाग बढ़ना **उत्कर्षण** है।

३. जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति कम है, उनकी स्थिति **तत्काल बंधनेवाले कर्म के संबंध से बढ़ना** उत्कर्षण है। **(ज.ध. ७/२४३)**

४. **उत्कर्षण बंध का अनुगामी है।**

५. बंधावस्था में पूर्व की **स्थिति या अनुभाग में वृद्धि उत्कर्षण नाम** को प्राप्त होती है।

६. उदयावली की स्थिति के प्रदेशों का उत्कर्षण नहीं बनता।

७. उदयावली के बाहर की स्थितियों का उत्कर्षण यथायोग्य संभव है।

८. **उत्कर्षण बंध के समय में ही होता है।**
जैसे - कोई जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कर रहा है तो उसमें सत्ता में स्थित साता वेदनीय के परमाणुओं का ही उत्कर्षण होगा, न कि असाता वेदनीय के परमाणुओं का।

९. सभी कर्म प्रकृतियों में उत्कर्षण होता है। तथा तेरहवें गुणस्थान पर्यंत उत्कर्षण संभव है, आगे नहीं। **(गो.क. ४४२)**

१०. उत्कर्षित द्रव्य जहाँ दिया जाता है, वह **निक्षेप** कहलाता है।

११. जहाँ या जिन स्थितियों में उत्कर्षित-अपकर्षित द्रव्य नहीं दिया जाता, वह स्थान या वे स्थितियाँ **अतिस्थापना** कहलाती है।

१२. उत्कर्षित की जानेवाली स्थिति, बध्यमान स्थिति से तुल्य या हीन होती है; अधिक कदापि नहीं।

२. प्रश्न :– स्थिति और अनुभाग का उत्कर्षण किस प्रकार होता है?

उत्तर :– थोड़े समय में उदय आने योग्य नीचे के निषेकों के परमाणुओं को बहुत काल में उदय आने के योग्य ऊपर के निषेकों में मिलाना स्थिति उत्कर्षण होता है।

तथा थोड़े अनुभाग वाले नीचे के स्पर्धकों के परमाणुओं को बहुत अनुभागवाले ऊपर के स्पर्धकों में मिलाने से अनुभाग उत्कर्षण होता है।

३. प्रश्न : अपकर्षणकरण का स्वरूप क्या है?

१. कर्मप्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम **अपकर्षण** है।[1]
२. **अपकर्षण के द्वारा** कर्मों की स्थिति और अनुभाग क्षीण हो जाते हैं।
३. परिणाम विशेष के कारण कर्म परमाणुओं की स्थिति का कम करना **अपकर्षण** है। **(ज.ध. ७/२३७)**
४. **स्थिति-अनुभाग** के घटने का नाम **अपकर्षण** जानना।[2]
५. यह अपकर्षण करण तेरहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।
६. अपकर्षण में यह नियम है कि बद्ध द्रव्य का एक आवली काल तक अपकर्षण नहीं होता।
७. **अपवर्तन (अपकर्षण) के समय उस कर्म के नवीन बंध की जरूरत नहीं।**
८. उदयावली के भीतर स्थित कर्म-परमाणुओं का अपकर्षण नहीं हो सकता। **(ज.ध. ७/२३९)**
९. उदयावली के बाहर जो कर्म परमाणु स्थित हैं, उनका अपकर्षण अवश्य हो सकता है।

(यह भी जानना आवश्यक है कि उदयावली के बाहर स्थित कर्मपरमाणुओं में से अप्रशस्त उपशम, निधत्ति करण व निकाचनरूप अवस्थाओं वाले कर्मपरमाणु अपकर्षण को नहीं प्राप्त होते।)

१. ज.ध. ७/२३७   १. लब्धिसार पीठिका पृ. ४४

१०. हाँ, यह समझना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वे अप्रशस्त उपशम आदि भी अनिवृत्तिकरण परिणामों के समय उन्हीं विवक्षित उदयावली के बाहर की स्थितियों में रहते हुए भी अपकर्षण के योग्य हो जाते हैं।

४. प्रश्न : उदयावली के कर्मपरमाणु अपकर्षण को क्यों नहीं प्राप्त होते?

उत्तर : उन कर्मपरमाणुओं का स्वभाव ही ऐसा है और स्वभाव के सम्बन्ध में तर्क या प्रश्न नहीं होता।

११. **विवक्षित निषेक का अपकर्षण होने पर वह निषेक समाप्त नहीं हो जाता;** किन्तु उस निषेक के कुछ परमाणु ही अपकर्षित करके नीचे की स्थितियों में दिये जाते हैं।
१२. समय-समय में जितना द्रव्य नीचे निक्षिप्त किया जाता है, उसे **फाली** कहते हैं।
१३. **आदि स्पर्धक का अपकर्षण नहीं होता।**
१५. उदयावली के निषेकों का मात्र स्वमुख या परमुख से उदय ही संभव है। **(करणदशक, पृष्ठ-६१)**
१६. जो स्थिति अपकर्षित की जाती है वह स्थिति बध्यमान स्थिति से समान या हीन होती है अथवा अधिक भी हो सकती है।[1]
१७. **अपकर्षित द्रव्य का उदयावली में आना जरूरी नहीं है।**

५. प्रश्न :– स्थिति और अनुभाग का अपकर्षण कैसे होता है?

उत्तर :– बहुत काल में उदय आने के योग्य ऊपर के निषेकों के परमाणुओं को शीघ्र उदय में आनेवाले नीचे के निषेकों में मिलाने से स्थिति अपकर्षण होता है।

तथा बहुत अनुभाग वाले ऊपर के स्पर्धकों के परमाणुओं को थोड़े अनुभागवाले नीचे के स्पर्धकों में मिलाने से अनुभाग अपकर्षण होता है।

●

१. करणदशक, पृष्ठ-६२

अधिकार सातवाँ

७ – संक्रमणकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

अब यहाँ संक्रमणकरण विषय को लेकर कुछ चर्चा करेंगे।

१. प्रश्न :– संक्रमण करण साधक के जीवन में किसतरह उपयोगी हैं?

उत्तर :– संक्रमणकरण का काम एक प्रकार से क्रांतिकारी कार्य है। उसका खुलासा इसप्रकार है –

☛ बंधकरण में तो नया कर्म का बंध होता है। ☛ सत्त्वकरण में बद्ध कर्म जीव के साथ मिट्टी के ढेले के समान पड़ा रहता है। ☛ उदयकरण तो सत्त्वकरण का कार्य है। ☛ उदीरणाकरण एक दृष्टि से उदय ही है। ☛ उत्कर्षण एवं अपकर्षण में मात्र स्थिति-अनुभाग बढ़ते अथवा घटते हैं।

१. इस संक्रमण करण में बदलने का कार्य होता है। इसकारण यह आमूलचूल क्रांतिकारी कार्य करता है।

२. संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनंतानुबंधी की विसंयोजना सर्व-संक्रमणरूप ही है।

मिथ्यात्व का संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति में होता रहता है। इसी क्रम से मिथ्यात्व सर्वप्रथम नष्ट होता है।

तदनन्तर मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म का संक्रमण

सम्यक्प्रकृति में होता है। सम्यक्प्रकृति स्वोदय से नष्ट होती है। इसतरह संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता।

३. श्रेणी में भी अप्रत्याख्यानावरण + प्रत्याख्यानावरण आठों कषायों का संक्रमण के द्वार से ही अभाव होता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं स्थूल लोभ मानादि में संक्रमित होते हुए सूक्ष्मलोभरूप से परिणत होते हैं। इसलिए चारित्र की पूर्णता में संक्रमण करण अपना विशेष महत्व रखता है।

४. कर्मरूप पुद्गलों में संक्रमण अपनी-अपनी पात्रता से ही स्वतंत्ररूप से होता है; यह विषय स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। इस संक्रमणरूप कार्य का कर्त्ता कर्मरूप पुद्गल ही है, जीव द्रव्य अथवा जीवद्रव्य का परिणाम भी नहीं। (जीव के परिणाम संक्रमण में निमित्त हैं, इसका निषेध नहीं।) जीव संक्रमण का मात्र ज्ञाता है। इससे उदय और औदयिकभावों का यथार्थ ज्ञान होता है।

संक्रमण का सामान्य नियम –

१. मूल कर्मों में संक्रमण नहीं होता।

२. उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है, वह भी अपनी सजातीय प्रकृति में बदलता है, ऐसा है; तथापि इस नियम में अपवाद भी है।

३. जैसे चारों आयु का (सजातीय होने पर भी) परस्पर में संक्रमण नहीं होता, यह कथन पुद्गल की अपनी स्वतंत्रता को स्पष्ट करता है।

५. संक्रमण में थिबुक्क (स्तिबुक) संक्रमण नाम का एक संक्रमण है। इस कारण कर्म एक समय के पूर्व ही अन्य प्रकृति में बदल जाता है। जैसे – क्षयोपशम दशा में सर्वघाति स्पर्धक देशघातिरूप में बदल जाते हैं। इससे संक्रमण की सूक्ष्मता का बोध होता है।

६. कर्म का विशिष्ट रूप से संक्रमण हो, ऐसे विकल्प के कारण किसी भी कर्म का संक्रमण नहीं होता। जैसा संक्रमण होना होता है,

वैसा होता है, उसे जीव मात्र जानता है। इसतरह जीव मात्र ज्ञाता ही है; यह विषय समझ में आता है।

विकल्प किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं है; इस अपेक्षा से विकल्प असमर्थ हैं; ऐसा स्पष्ट निर्णय होता है।

संक्रमणकरण के संबंध में ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का विचार हम आगे दे रहे हैं –

''संक्रमण की प्रक्रिया मनोविज्ञानानुसार मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा पाने का मानवजाति के लिए अतीव उपयोगी, सरलतम एवं महत्वपूर्ण उपाय है।[१]

संक्रमणकरण का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद और प्रेरक –

संक्रमण का यह सिद्धान्त स्पष्टतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद एवं पुरुषार्थ प्रेरक हैं कि व्यक्ति पहले चाहे जितने दुष्कृतों (पापों) से घिरा हो, परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, सद्भावना और सद्वृत्ति से युक्त है तो वह कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा सकता है और उत्कृष्ट रसायन (परिणाम) आने पर कर्मों से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। जैसे – तुलसीदास जी।

किसी व्यक्ति ने पहले अच्छे कर्म बांधे हों, किन्तु वर्तमान में वह दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाकर बुरे (पाप) कर्म बांध रहा है तो पहले के पुण्य कर्म भी पापकर्म में बदल जाएँगे। फिर उनका कोई भी अच्छा व सुखद फल नहीं मिल सकेगा। अतः संक्रमणकरण द्वारा मनुष्य अपने जीवन का सदुपयोग या दुष्प्रयोग कर अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में या सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल सकता है। **प्रत्येक व्यक्ति अपना भाग्य विधाता स्वयं ही है, भाग्य को बदलने में वह पूर्ण स्वाधीन है।**[२]''

१. कर्म सिद्धान्त, पृ. २१, २२ २. कर्मसिद्धान्त – पृ. २८, २९

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब आगे संक्रमणकरण संबंधी विशेष ज्ञान कराने के अभिप्राय से भावदीपिका शास्त्र का विभाग दे रहे हैं।

कर्म की संक्रमणकरण अवस्था कहते हैं –

''अन्य प्रकृतियों के परमाणु दूसरी अन्य प्रकृतियोंरूप होकर परिणमे, उसे **संक्रमण कहते हैं।**

जो मतिज्ञानावरणादि के परमाणु श्रुतज्ञानावरणरूप होकर परिणमे, श्रुतज्ञानावरण के अवधिज्ञानावरणरूप और अवधिज्ञानावरण के मनःपर्ययज्ञानावरणरूप तथा मनःपर्ययज्ञानावरण के केवलज्ञाना-वरणरूप, केवलज्ञानावरण के मनःपर्यय आदि ज्ञानावरणरूप होकर परस्पर रूप परिणमते हैं।

मतिज्ञानावरणादि श्रुतज्ञानावरणादिरूप परिणमे, श्रुतज्ञानावरणादि मतिज्ञानावरणादि रूप होकर परिणमे यह परस्पर सजातीय द्रव्य का सजातीय में संक्रमण हुआ, विजातीय में संक्रमण नहीं होता।

इसी प्रकार दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का दर्शन मोहनीय की प्रकृतिरूप, चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का चारित्र-मोहनीय की प्रकृतिरूप, अंतराय की पाँच प्रकृतियों का अपनी अंतराय की प्रकृतियोंरूप, वेदनीय की दो प्रकृतियों का-सातावेदनीय का असातावेदनीयरूप, असातावेदनीय का सातावेदनीयरूप संक्रमण होता है।

नामकर्म की ९३ प्रकृति परस्पर नामकर्म की प्रकृतिरूप, गोत्रकर्म की – नीचगोत्र की उच्चगोत्र और उच्चगोत्र की नीचगोत्ररूप होकर

अपनी-अपनी सजातीय प्रकृतियोंरूप होकर परस्पर संक्रमण होता है, विजातीय प्रकृतिरूप परिणमते नहीं हैं।

ऐसे आयु कर्म के बिना सात कर्मों का परस्पर में संक्रमण होता है। आयु कर्म का संक्रमण करण नहीं होता। इसलिए **आयुकर्म में संक्रमण करण बिना नौ करण ही होते हैं।** ऐसे सत्तारूप रहे आयुकर्म बिना सात कर्म, उनका अपनी-अपनी प्रकृतियों का अपनी-अपनी प्रकृतियों में संक्रमण होता है। इसप्रकार संक्रमण करण भी आत्मा के भावों के अनुसार ही होता है।

जब जो जीव शुभ लेश्यादि शुभ भावोंरूप परिणमता है, तब असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का द्रव्य सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों में संक्रमण/संक्रमित होता है।

जब (जीव) अशुभ लेश्यादि अशुभभावों रूप परिणमता है, तब सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का द्रव्य असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतिरूप परिणमता है। ऐसा संक्रमणकरण का विधान जानना।''

●

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

अब आगे संक्रमणकरण का विषय दे रहे हैं।

१. प्रश्न : संक्रमणकरण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : १. एक प्रकृति का अन्य सजातीय प्रकृति में परिवर्तित हो जाने को **संक्रमण** कहते हैं।

२. **एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप संक्रान्त होना संक्रमण है।**[1]

२. प्रश्न : संक्रमण कितने प्रकार का है?

उत्तर : कर्मों का यह संक्रमण ४ प्रकार का है - १. प्रकृति संक्रमण, २. प्रदेश संक्रमण, ३. स्थिति संक्रमण, ४. अनुभाग संक्रमण।

१. एक प्रकृति का अन्य प्रकृति में संक्रमण हो जाना, यह **प्रकृति संक्रमण** है। जैसे - क्रोध कर्म का मान कषाय में बदलना।[2]

२. विवक्षित कर्म प्रदेशाग्र अन्य प्रकृति में सक्रान्त किया जाता है, उसे **प्रदेश संक्रमण** कहते हैं। **(ध. १६/४०८)**

३. कर्मों की स्थिति का उत्कर्षित - अपकर्षित होना **स्थिति संक्रमण** है।

४. कर्मों का अनुभाग का अपकर्षित होना - उत्कर्षित होना **अनुभाग संक्रमण है। (ध. १६/३७५)**

- दर्शनमोह का चारित्रमोह में संक्रमण नहीं होता; तथापि **दर्शनमोह का दर्शनमोह में संक्रमण होता है। जैसे** - मिथ्यात्व का सम्यग्मिथ्यात्व में।

१.- ज.ध. ९/३

२. - ध. १६/३४०

- चारित्र मोह का दर्शनमोहनीय में संक्रमण नहीं होता।
- **चारित्रमोह का चारित्रमोह में संक्रमण होता है। जैसे** - संज्वलन क्रोध का मान में।

३. **प्रश्न : उत्तरप्रकृति संक्रमण कितने प्रकार का है? यह परिभाषा सहित स्पष्ट करें।**

उत्तर : उत्तरप्रकृति संक्रमण पाँच प्रकार का है - १. उद्वेलनसंक्रमण, २. विध्यातसंक्रमण, ३. अधःप्रवृत्त संक्रमण, ४. गुणसंक्रमण, ५. सर्वसंक्रमण।

४. **प्रश्न** : उद्‌वेलन संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर : जहाँ उद्वेलना प्रकृति के परमाणु को उद्वेलना-भागहार का भाग देने पर एक भाग मात्र परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत होते हैं, वह उद्वेलन संक्रमण है।

५. **प्रश्न** : विध्यात संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर : जहाँ मन्द विशुद्धि वाले जीव के अबन्ध प्रकृतिसम्बन्धी परमाणुओं को विध्यातभागहार का भाग देने पर एक भाग परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत होते हैं, वह विध्यात संक्रमण है।

६. **प्रश्न** : अधःप्रवृत्त संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर : जहाँ जिसके बन्ध की संभावना हो, ऐसी प्रकृति के परमाणुओं को अधःप्रवृत्तभागहार का भाग देने पर एक भाग मात्र परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत होते हैं, वह अधः प्रवृत्त संक्रमण कहलाता है।

७. **प्रश्न** : गुण संक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर : विवक्षित अशुभ प्रकृति के परमाणुओं को गुणसंक्रमण भागहार का भाग देने पर एक भाग मात्र परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत होते हैं तथा प्रथम समय में जितने परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत

हुए उससे दूसरे समय में असंख्यातगुणे परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत होते हैं, तीसरे समय में दूसरे समय से असंख्यातगुणे परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणत होते हैं।

इसप्रकार क्रमशः असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा संक्रमण जहाँ प्रवृत्त हो वहाँ उस प्रकृति के प्रदेशों का गुणसंक्रम कहलाता है।

८. **प्रश्न** : सर्वसंक्रमण किसे कहते हैं?

उत्तर : जिहाँ किसी प्रकृति के सकल परमाणु अन्य प्रकृति रूप परिणत हो जाय वहाँ सर्वसंक्रमण कहलाता है।

●

अधिकार आठवाँ

८ – उपशांतकरण

आगमाश्रित
चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :– उपशान्तकरण किसे कहते हैं?

उत्तर :– १. उपशांतकरण को ही उपशमना करण कहते हैं।

२. उपशांतकरण आठों कर्मों में होता है।

३. उपशांत अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है; किन्तु उसकी उदीरणा नहीं होती।

४. उपशांतकरण/उपशमनाकरण आठों कर्मों में होता है।

५. कर्मों की दस अवस्थाओं में एक उपशांतकरण भी है।

२. प्रश्न :– यदि उपशान्तकरण नहीं होता तो क्या आपत्ति आती?

उत्तर :– यदि उपशांत करण नहीं होता तो कर्मबंध के बाद तत्काल ही कर्म का उदय आ सकने के कारण कर्मोदय की व्यवस्थित व्यवस्था ही भंग हो जाती।

यदि उपशांत करण नहीं मानेंगे तो कर्मबंध होने के अनंतर/तत्काल ही कषाय आदि का उदय हो जाने से कोई भी सम्यग्दृष्टि, संयमी, ज्ञानी, पूर्ण ज्ञानी आदि होने का कार्य भी जीव नहीं कर सकेगा।

३. प्रश्न : सत्त्वकरण और उपशान्तकरण में क्या अन्तर है?

उत्तर : कर्मबंध होने के बाद उदयकरण काल पर्यंत के बीच के काल में जो कर्म का अस्तित्व रहता है, उसे सत्त्व अथवा सत्ता कहते हैं।

सत्ता (सत्त्व) करण का काल दीर्घ होता है।

कर्मबंध होने के बाद मर्यादित काल पर्यंत कर्म के उदय, उदीरणा नहीं होना - कर्म की दबे रहनेरूप अवस्था को उपशांतकरण कहते हैं।

सत्त्वकरण के काल की अपेक्षा से उपशांतकरण का काल अति अल्प होता है।

उपशांतकरण के संबंध में जिनेन्द्रवर्णीजी के विचार निम्नानुसार हैं –

''उपशमनकरण का भी बहुत बड़ा महत्व : क्यों और कैसे? –

उपशमन का भी जीव को बन्ध से मुक्ति की ओर ले जाने में बहुत बड़ा हाथ है। क्योंकि जितनी देर तक कर्ममल उपशम-अवस्था में शान्त रहा-दबा रहा, या उदय से विरत रहा, उतनी देर तक आत्मा के परिणाम शत-प्रतिशत निर्मल तथा शुद्ध रहे। इतने काल तक उसमें न तो कोई रागादि का विकल्प उठा, और न ही कोई कषाय। वह उतनी देर तक पूर्णतया समता अथवा शमता से युक्त रहा।

यह थोड़ा-सा काल बीत जाने पर भले ही कर्म उदय में आ जाए, और उसके प्रभाव से जीव में पुनः विकल्प एवं कषाय जागृत हो जाए; किन्तु उपशम काल में तो वह उतनी देर तक पूर्णतया निर्विकल्प तथा वीतराग रहा ही है। **यद्यपि यह काल अतीव अल्प होता है, फिर भी मुमुक्षु साधक के जीवन में, बन्ध से मुक्ति की ओर दौड़ लगाने में इसका महत्व बहुत अधिक है। बन्ध से मुक्ति की यात्रा में उपशम का पड़ाव वीतरागता और निर्विकल्पता की झाँकी दिखने वाला पड़ाव है।**[१]''

---

१. कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. १०८

भावदीपिका चूलिका अधिकार

कर्म की उपशांतकरण अवस्था कहते हैं :–

अपनी–अपनी स्थिति को लिये हुए सत्ता में रहा हुआ ज्ञाना-वरणादि कर्मों का द्रव्य, जिसमें जिसकी जितने काल तक उदीरणा नहीं होती, उतने काल तक **उपशांत करण कहलाता है।**

जो शुभाशुभकर्म आत्मा के तीव्र–मंदकषायों का अनुभाग सहित शुभाशुभभावों से जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थिति सहित बंधा है, वह तो दृढ़रूप से रहता है।

जब तक उसकी उदीरणा होने योग्य हीन – अधिक अनुभाग को लिये आत्मा के भाव न हों, तब तक उस कर्म की उदीरणा करने के लिये आत्मा समर्थ नहीं है।

जब वैसे ही तीव्र–मंद अनुभाग सहित आत्मा के उदीरणा योग्य भाव हों, तब उस कर्म की उदीरणा करने में समर्थ होता है।

इसलिए जितने काल, जिस कर्म की उदीरणा नहीं होती, दूसरे–दूसरे करण होते हैं उतने काल तक उपशांत करण कहलाता है।

●

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :– उपशम करण किसे कहते हैं?

उत्तर :– विवक्षित प्रकृति के जो निषेक उदयावली से बाहर हैं, उनके परमाणुओं को उदयावली में आने के अयोग्य करने का नाम उपशम अथवा उपशान्त करण है।

२. प्रश्न :– उपशम के कितने भेद हैं?

उत्तर :– उपशम के दो भेद हैं – एक अन्तरकरण रूप उपशम और दूसरा सदवस्था रूप उपशम।

३. प्रश्न :– अन्तरकरण उपशम किसे कहते हैं?

उत्तर :– जिस कर्म का अन्तरकरण करना हो उसकी प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिति के निषेकों का अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

जैसे, मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वकर्म का अन्तरकरण करता है। इसमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। सो वह अनादिकाल से उदय में आने वाले मिथ्यात्वकर्म की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति सम्बन्धी निषेकों को छोड़कर उससे ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के निषेकों को अपने स्थान से उठा–उठाकर कुछ को प्रथम स्थिति (नीचे की स्थिति) सम्बन्धी निषेकों में मिला देता है। कुछ को द्वितीय स्थिति संबंधी निषेकों में मिला देता है।

इसतरह वह तब तक करता रहता है, जबतक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के पूरे निषेक समाप्त न हो जायें। जब मध्यवर्ती समस्त निषेक ऊपर की अथवा नीचे की स्थिति के निषेकों में दे दिये जाते हैं और प्रथम स्थिति तथा द्वितीय स्थिति के बीच का अन्तरायाम मिथ्यात्व

कर्म के निषेकों से सर्वथा शून्य हो जाता है तब अन्तरकरण पूर्ण हो जाता है।

३. प्रश्न :– अन्तरकरण रूप उपशम किसको कहते हैं?

उत्तर :– अन्तरकरण का स्वरूप पहले कहा है, अन्तरकरण के द्वारा आगामी काल में उदय आने योग्य कर्म परमाणुओं को आगे-पीछे उदय आने योग्य करने का नाम अन्तरकरणरूप उपशम है।

४. प्रश्न :– सदवस्थारूप उपशम किसको कहते हैं?

उत्तर :– आगामी काल में उदय आने योग्य निषेकों के सत्ता में रहने को (उदीरणा के अयोग्य होने को) सदवस्थारूप उपशम कहते हैं।

५. प्रश्न :– उपशम भाव और उपशान्त करण में क्या अन्तर है?

उत्तर :– उपशमभाव और उपशांतकरण में अंतर बता रहे हैं –

१. उपशम भाव तो मोहनीय कर्म का ही होता है।
उपशान्तकरण सब प्रकृतियों का होता है।

२. उपशान्तकरण आठवें गुणस्थान पर्यन्त ही होता है।
उपशम भाव ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

३. करणानुयोग में **उपशम का 'अनुदय'** अर्थ विवक्षित है।

४. **जो कर्म उदय में नहीं दिया जा सके वह उपशान्त कहलाता है।**[१]

कर्म को उदय के लिए अयोग्य करना उपशांत है।

परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की फलदान शक्ति का प्रकट न होना **उपशम** है।

५. बध्यमान तथा उदीर्ण (व उदित) से भिन्न समस्त कर्मों की **उपशान्त** संज्ञा है। **(ध. १२/३०६)**

१. ध. ९/२३६

६. यह उपशम या उपशमना दो प्रकार की है –

७. अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण – इन परिणामों के द्वारा जो मोहनीय कर्म की उपशमना होती है, वह प्रशस्तोपशमना है।

८. **बन्ध के समय ही कुछ कर्मप्रदेशों में अप्रशस्त उपशमना होती है, वह यहाँ प्रकृत है।**

९. कितने ही कर्म-परमाणुओं का बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग कारणवश उदीरणा द्वारा उदय में न आने देना, इसे अप्रशस्त उपशमना कहते हैं।

१०. इस उपशमकरण से युक्त कर्म-परमाणुओं का अपकर्षण, उत्कर्षण अथवा सँक्रमण तो सम्भव होता है, परन्तु उदय-उदीरणा नहीं होती।

११. इस उपशान्त द्रव्य को उदयावली में प्राप्त न कराने का नियम अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ही होता है।

१२. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के उपशांत आदि तीनों करण (उपशांत, निधत्ति व निकाचित) युगपत् व्युच्छिन्न (नष्ट) हो जाते हैं।

●

अधिकार नौवाँ-दसवाँ

९-१०. निधत्तिकरण एवं निकाचितकरण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड के दशकरण चूलिका अधिकार में गाथा क्रमांक ४४० में निधत्ति और निकाचित की परिभाषा दी है उसका हिन्दी अनुवाद हम नीचे दे रहे हैं - **(आर्यिका आदिमतीजी)**

निधत्ति - (१) जो कर्म प्रदेशाग्र (उदीरणा करके) उदय में देने के लिए अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणमने के लिए शक्य नहीं है, वह **निधत्त** है।[१]

(२) जो कर्म प्रदेशाग्र निधत्तिकृत है यानि उदय में देने के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में संक्रान्त करने के लिए भी शक्य नहीं है; किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करने के लिए शक्य है; ऐसे प्रदेशाग्र की **निधत्ति** संज्ञा है।[२]

निकाचित - जो कर्म इन चारों (उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण अपकर्षण) के लिए अयोग्य होकर अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध है उसकी उस अवस्थान लक्षण पर्याय विशेष को निकाचनकरण कहते हैं।[३]

यहाँ तक तो जो कुछ दिया वह सब शास्त्राधार से दिया है। निधत्ति और निकाचितरूप कर्म फल देकर ही नष्ट होते हैं; उन कर्मों के सामने

१. ध.पु. ९, पृष्ठ २३५   २. ध.पु. १६, पृष्ठ ५१६

३. धवला पुस्तक-९, पृष्ठ २३६

जीव का कुछ नहीं चलता, कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा, ऐसा कथन किया जाता है, वह जिस अपेक्षा से कहा जाता है, वह उस अपेक्षा से वहाँ के लिए सत्य ही है। इसमें हमें कुछ कहना नहीं है।

इसका स्पष्ट अर्थ करने के लिए हम यह भी समझ सकते हैं कि पांचों पांडवों को, गजकुमार मुनिराज को अथवा रामचन्द्रजी एवं सीताजी को जो प्रतिकूल संयोगजन्य दुःख हुआ था, वह पापरूप निकाचित कर्म का उदय था। ये पापरूप निकाचित के उदाहरण हो सकते हैं।

तीर्थंकर अवस्था को प्राप्त करके जो मुक्त हो गये ऐसे शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे महापुरुषों को गृहस्थ जीवन में पुण्यरूप निकाचित कर्म था, जो उदय में आकर फल देकर ही नष्ट हो गया। इस कारण वे चक्रवर्ती और कामदेव भी बने थे।

यह पुण्यरूप निकाचित का उदाहरण हो सकता है।

१. प्रश्न :- निधत्ति कर्म एवं निकाचित कर्म ये दोनों कर्म अत्यन्त दृढ़ होते हैं। उन कर्मों का फल जीव को भोगना ही पड़ता है - ऐसा कथन शास्त्र में आता है। यह जानकर हमारे मन में यह प्रश्न होता है कि अरहंत-सिद्ध बनने वाले जीवों ने इन कर्मों का नाश कैसे किया होगा? कहाँ किया होगा? यह स्पष्ट करें।

उत्तर :- आपको प्रश्न होना स्वाभाविक है; ऐसे प्रश्न अनेक जिज्ञासुओं को होते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में ही दशकरण चूलिका के अन्तिम गाथा ४५० में ही आपके प्रश्न का उत्तर दिया है, वह इसप्रकार है -

उदये संकममुदये, चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं।
उवसंतं च णिधत्तिं, णिकाचिदं तं अपुव्वोत्ति।।४५०।।

अर्थ – जो उदयावली को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है ऐसा **उपशांतकरणद्रव्य** तथा जो संक्रमण अथवा उदय को प्राप्त होने में समर्थ नहीं है ऐसा **निधत्तिकरण द्रव्य** एवं जो उदयावली, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण को प्राप्त होने में समर्थ नहीं है ऐसा **निकाचित्तकरण द्रव्य** हैं – ये तीनों ही प्रकार के करणद्रव्य अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ही पाए जाते हैं, क्योंकि **अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के ये तीनों करण युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं।**[1]

अर्थात् प्रवेश करने के पहले ही यहाँ मुख्यरूप से यह समझना आवश्यक है कि जब कर्मभूमिज मनुष्य मुनि अवस्था को स्वीकार करके अनिवृत्तिकरण नामक नौंवे गुणस्थान में प्रवेश करते हैं तो तत्काल (आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय में कहो अथवा नौवें गुणस्थान के पहले समय में) कर्मों का निधत्ति व निकाचितपना नष्ट होता है और क्षपक मुनिराजों का अरहंत-सिद्ध बनने का कार्य अतितीव्र गति से प्रारंभ होता है।

इस पुरुषार्थमूलक अंश का ज्ञान सामान्य मनुष्य को भी होना चाहिए। शास्त्र के जानकारों की यह बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।

जो कर्म को ही सामर्थ्यशाली सिद्ध करना चाहते हैं, वे कर्म के निधत्ति-निकाचितपने का ज्ञान तो जनसामान्य को कराते हैं; लेकिन उन कर्मों को नष्ट करने का सामर्थ्य भी जीव में है; इस विषय का कथन करना छोड़ देते हैं यह उचित नहीं है।

जिनवाणी का कथन तो मुख्यरूप से जीव को ऊपर उठाने के लिए, पुरुषार्थी बनाने के लिए करना होता है, करना भी चाहिए।

१. 'सव्वेसिं कम्माणमणियट्टिगुणट्ठाणपवेसपढसमए चेव एदाणि तिण्णि वि करणाणि अक्कमेण वोंच्छिण्णाणि त्ति भणिदं होइ।' जयधवल पु. १३, पृ. २३१

जो उपदेश जीव को अपनी हीन अवस्था से निकालकर उच्च अवस्था पर्यन्त पहुँचाता है, वही जिनधर्म का उपदेश है।

अतः जिनवाणी का कथन करनेवाला वक्ता हो अथवा जनसामान्य पर्यन्त लेखन के माध्यम से सर्वज्ञ भगवान की वाणी को पहुँचानेवाला लेखक हो, उसका प्रमुख कर्त्तव्य तो यही है कि **श्रोता अथवा पाठक उत्साह के साथ अपने जीवन को प्रगतिशील बनावें। जीव को अर्थात् स्वयं को सामर्थ्य संपन्न स्वीकार करें। अपने को कर्मों का गुलाम न समझें; ऐसा ही कथन और लेखन करना आवश्यक है।**

अनिवृत्तिकरण नामक नौंवे गुणस्थान के पहले-पहले पुण्यरूप अथवा पापरूप निधत्ति-निकाचितपना रहना बात अलग है और कर्मों के निधत्ति-निकाचितपने के कारण जीव कर्मों में कुछ कर ही नहीं सकता, कर्म तो बलवान ही है, जीव को किए हुए पुण्य-पाप का फल भोगना ही अनिवार्य है, जीव, कर्मों के सामने कुछ नहीं कर सकता है; ऐसा एकान्त रूप से कथन करना बात अलग है।

इसीलिए द्रव्यानुयोग के माध्यम से प्रत्येक जीव, स्वभाव से भगवान ही है, कमजोरी से अथवा पर्यायगत पात्रता से वर्तमान पर्याय में तात्कालिक विभाव भाव होते हैं, उसमें कर्म निमित्त है। इसतरह प्रत्येक जीव को अपने मूल स्वभाव का व पर्यायगत पात्रता का ज्ञान करना एवं कराना चाहिए।

इसकारण आत्मस्वभाव का/शुद्धात्मस्वभाव का ज्ञान करानेवाले समयसार शास्त्र को ग्रंथाधिराज कहा है, जो कि परम सत्य है। आचार्य योगीन्दुदेव ने तो **अप्पा सो परमप्पा, आत्मा ही परमात्मा है,** ऐसा उपदेश दिया है।

२. प्रश्न :- निधत्ति, निकाचितकरण को नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी?

उत्तर :– १. इस लोक में जीव और पुद्गल की जो–जो पर्यायें/अवस्थाएँ हमें आपको जानने में आती है – उनमें सामान्य एवं विशेष ऐसी दो प्रकार की अवस्थाएँ देखने को मिलती ही है।

(धर्मादि द्रव्यों की पर्यायों को यहाँ गौण किया है; क्योंकि उनके अरूपीपना होने के कारण उनके संबंध में होनेवाला ज्ञान छद्मस्थ को विशद/स्पष्टरूप से नहीं होता)।

जैसे किसी भी रंग की अवस्था हो, वह सामान्य और विशेष होती ही है। स्निग्ध की पर्यायें भी अलग–अलग होती ही है। मीठापन में भी भिन्नता का स्पष्ट ज्ञान होता है। जैसे गुड़ भी मीठा होता है, शक्कर भी मीठी तो रहती ही है। मिश्री का मीठापन का ज्ञान तो सबको समझ में आता ही है। इससे भी अधिक मीठापन सैक्रीन में होता है।

जैसे ऊपर पुद्गल की पर्यायों में हमने विशेषता का ज्ञान कराया। वैसे कर्म की जो–जो अलग अवस्थाएँ है, उनका भी ज्ञान करना चाहिए। कर्म तो पुद्गलरूप है, यह बात तो आगमाभ्यासी को स्पष्ट ही है। पुद्गलमय कर्म की भी हीनाधिकता होना स्वाभाविक है। इसलिए जिन कर्मों में अधिक दृढ़ता/परिपक्वता रहती है। उन्हें ही तो निधत्ति, निकाचित नाम मिलता है। यदि कर्मों में निधत्ति, निकाचितपना हम नहीं मानेंगे तो पुद्गल की अवस्थाओं का हमें यथार्थज्ञान नहीं है, इसलिए हमें अज्ञानता का दोष आयेगा।

२. साधक जीव की जिस वीतरागता को धर्म कहते हैं, उस धर्म में हीनाधिकता होती है। चौथे गुणस्थान की वीतरागता/धर्म के कारण जिन कर्मों का नाश होता है, वे कर्म तो सामान्यरूप से दृढ़ होते हैं। जो मात्र भावलिंगी मुनिराज के जीवन में और वह भी अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में प्रगट होनेवाले धर्म से निर्जरित होते हैं, वे कर्म वास्तविकता

रूप से देखा जाय तो अति–अति दृढ़ होना ही चाहिए। इस अनुमान से भी हम कर्मों में निधत्ति, निकाचितपना की सिद्धि कर सकते हैं।

यदि हम निधत्ति, निकाचितरूप कर्मों को नहीं मानेंगे तो चौथे गुणस्थान के धर्म और नौवें गुणस्थान के धर्म में भेद अर्थात् तारतम्यता है – इसका स्वीकार न होने की आपत्ति आयेगी।

३. यदि हम पापमय निधत्ति, निकाचित कर्म की अवस्था का स्वीकार नहीं करेंगे तो धर्मराज, भीम आदि महापुरुषों को गृहस्थ जीवन में अथवा मुनिराज के जीवन में भी जो प्रतिकूलता का सामना करना पड़ा – ऐसा कार्य कैसे हो सकते थे?

४. **यदि पुण्यमय निधत्ति-निकाचित कर्मों को नहीं मानेंगे तो शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे तीर्थंकर, कामदेव तथा चक्रवर्तित्व के पुण्य का भोग भी कैसे संभव हो सकता था?**

इन कारणों से कर्म में निधत्ति, निकाचितकरणरूप अवस्था होना चाहिए और हमें भी उनको मानना ही चाहिए।

३. प्रश्न :– निधत्ति, निकाचितरूप कर्मों को जीव किन परिणामों से बाँधता है, स्पष्ट करें?

उत्तर :– पहले हमें यह स्वीकारना चाहिए कि निधत्ति और निकाचितपना पुण्य–पाप दोनों अर्थात् आठों कर्मों में होता है।

सामान्यरूप से पहले हम यह जानें कि तीव्र मिथ्यात्व परिणाम से सहित जो अत्यन्त संक्लेश परिणाम करेगा वही जीव पापरूप निधत्ति–निकाचितरूप कर्मों का बंध करेगा। उसी तरह जो जीव मोक्षमार्गी हुआ हो अर्थात् चौथे, पाँचवें एवं छठवें गुणस्थानवर्ती हो एवं धर्मप्रभावना करने का जिसे विशेष विशुद्ध परिणाम हो, वही जीव पुण्यरूप निधत्ति–निकाचित कर्मों का बंध करेगा।

विशेष खुलासा करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि जो जीव यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विराधना करता हो, सप्त तत्त्व का विरोध करता हो, सप्त व्यसनों में लिप्त रहना जिनकी जीवन-चर्या बन गयी हो, तीव्र हिंसादि पाप परिणाम एवं कार्य जिनके लिए सहज हो, ऐसे जीव पापरूप निधत्ति, निकाचित कर्मों का बंध करेंगे।

उसीप्रकार जो जीव अष्टांग सम्यग्दर्शन सहित जीवन बिताते हो। सप्त तत्त्व, नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान रखते हो एवं जिनेन्द्र शासन की प्रभावना करने में जिसका जीवन समर्पित हो। एकेन्द्रियादि सर्व जीवों की हिंसा से विरत हो। अन्य असत्यादि पापों से सर्वथा रहित हो गये हो, जिनके श्वाच्छोश्वास में दयापालन का भाव हो। - ऐसे परिणामों के धारक जीव पुण्यरूप निधत्ति-निकाचित कर्मों का बंध कर सकते हैं।

(करणानुयोग के अभ्यासुओं से निवेदन है कि वे इस प्रश्न के उत्तर संबंधी मुझे मार्गदर्शन करें।)

निधत्ति, निकाचितरूप कर्म के विषय में मुझे अनेक शंकाएँ हैं; उनको लेकर मुझे विशेष जिज्ञासा है। मैं आगम के आधार से समाधान चाहता हूँ; जिससे अनेक पात्र जीव अपनी जीवन की दिशा बदल सके।

भाईसाहब! पहले शास्त्र के आधार से निधत्ति-निकाचित की परिभाषा जानने का काम करें। किसी भी शंका का समाधान तो ज्ञान/जानने से ही होगा।

जब और जहाँ भी हार तथा जीत का प्रसंग रहता है, तब सामान्य नियम यह है कि बलवान जीतता है और बलहीन हार जाता है।

जीव और कर्म में भी जब जीव अपनी पर्यायगत योग्यता से धर्म प्रगट नहीं कर पाता। अपने में अनन्तवीर्य अर्थात् सामर्थ्य होने पर भी

उसका भान/ज्ञान नहीं रखता तो कर्म बलवान है, कर्म जीव को परेशान करता है, ऐसा अनादि का रूढ़ व्यवहार चलता है। इस व्यवहार का स्वीकार जिनवाणी माता ने भी अपने कथन में किया ही है।

जीव अपनी वर्तमानकालीन अवस्था में वीतरागता प्रगट करता है, जब जीव का कर्म से युद्ध प्रारंभ होता है। प्रारम्भ में जीव की धर्मरूप पर्याय (वीतरागता) अल्प मात्रा में रहती है, जब अनादिकालीन कर्मरूपी शत्रु से युद्ध करने में सामर्थ्य की मात्रा कम रहती है, तब जीव के बलहीनपना को स्पष्ट करने के लिए कर्म को बलवान कहने का कार्य होता ही है। यह कथन वर्तमान अवस्था की अपेक्षा असत्य भी नहीं है; क्योंकि जीव तो अपना बल प्रगट ही नहीं करता तो कर्म को बलवान एवं (स्वभाव से अनंत वीर्यवान् जीव को भी मजबूरीवश ज्ञानियों से) बलहीनपने की उपाधि मिलती है।

जीव को अपना ज्ञान/भान होने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर जीव का मानस कर्म को पराजित करने का बनता है। अपनी शक्ति के अनुसार विपरीत मान्यतारूप अधर्म का नाश करके मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कर्म को पछाड़कर प्रारम्भ में ही नष्ट करता है। यह बहुत बड़ा काम हो गया।

अब जीव को आत्मसामर्थ्य का विश्वास हो गया। धीरे-धीरे जीव अपना सामर्थ्य बढ़ाता रहता है। इसी क्रम में मुनिपना के लिए योग्य धर्म प्रगट हो गया। आत्मानन्द बढ़ता रहा, तथापि कर्म को अर्थात् अपने विभाव भावों को आमूलचूल नष्ट करके साक्षात् भगवान बनने के मार्ग में कठिनाईयों को यहाँ निधत्ति, निकाचित कर्म नाम से कहा है। कर्म शत्रु में निधत्ति, निकाचितपना अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यन्त रहता है।

जीव अपने वीतराग परिणामों को अपूर्व-अपूर्वरूप से बढ़ाता

रहता है और आनन्द भी भोगता रहता है। इसी क्रम में वीतराग परिणामों में और विशेषता आती रहती है। उसी विशेषता को अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं। इसे नौवाँ गुणस्थान भी कहते हैं।

परिणामों में अनिवृत्तिपना आते ही अत्यन्त दृढ़ ऐसे निधत्ति-निकाचित कर्म की दृढ़ता स्वयमेव नष्ट होती है और वे कर्म सामान्य कर्म बनकर यथायोग्य समय पर उदय में आते हैं। जैसे जमे हुए घी को अग्नि का संपर्क चालू होते ही वह घी तत्काल पिघलने लगता है, वैसे अनिवृत्तिकरण परिणाम उत्पन्न होते ही निधत्ति, निकाचित कर्मों का तत्काल नाश हो जाता है। इस कारण वे निधत्ति, निकाचित कर्म ही सामान्य कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं और यथायोग्य समय पर यथायोग्य फल देते हैं।

मोक्षमार्ग विशेष-विशेष विकसित होता रहता है। साक्षात् भगवान होने का कार्य गतिशील रहता है और अल्पकाल में ही वे महान पुरुषार्थी क्षपक मुनिराज अरहंत बनते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हो गया कि क्षपक मुनिराज ही अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में निधत्ति, निकाचित कर्मों को वृद्धिंगत वीतराग परिणामों से नष्ट करते हैं।

उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त मुनिराज भी निधत्ति-निकाचित कर्मों से रहित होते हैं।

आठवें गुणस्थान तक व्यक्त होने वाला धर्म (वीतराग, रत्नत्रय) निधत्ति, निकाचित कर्मों को नष्ट नहीं करता। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कर्मों का निधत्ति, निकाचितपना प्रथम गुणस्थान से आठवें गुणस्थान तक रहता है, आगे नहीं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानवर्ती मुनिराज का व्यक्त धर्म विशेष बलवान होने से कर्म पराभूत हो जाते हैं। ●

भावदीपिका चूलिका अधिकार

यहाँ निधत्ति एवं निकाचितकरण विषयक भावदीपिका का अंश दिया है।

कर्म का निधत्तिकरण कहते हैं :-

सत्ता में रहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म, उनमें से जिस कर्म के द्रव्य की जितने काल तक उदीरणा भी न हो और संक्रमण भी न हो, उतने काल तक **निधत्तिकरण कहलाता है।**

जो कर्म जैसी स्थिति-अनुभाग को लिये आत्मा के शुभाशुभभावों से बंधा है, वैसे ही जितने काल तक अतिदृढ़ हो निधत्तिकरणरूप होकर रहता है, उसकी जितने काल तक उदीरणा और संक्रमण नहीं हो सकता, उतने काल तक उस कर्म की निधत्ति अवस्था कहलाती है।

कर्म की निकाचितकरण अवस्था कहते हैं :-

सत्ता में रहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म, उनमें जिस कर्म के द्रव्य की जितने काल तक उदीरणा न हो, संक्रमण न हो और उत्कर्षण-अपकर्षण भी न हो; उतने समय तक उस कर्म की **निकाचित अवस्था कहलाती है।**

जो कर्म जैसी स्थिति-अनुभाग को लिये आत्मा के शुभाशुभ भावों द्वारा बंधा है, वैसे ही अत्यन्त दृढ़ है; निकाचित अवस्था रूप होकर रहता है। उसकी जब तक उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण ये चारों करण करने के लिये आत्मा के परिणाम असमर्थ हों, उतने काल तक उस कर्म की निकाचित अवस्था जानना।

इसप्रकार ये कर्म की दश अवस्थायें होती हैं। उनमे भी जीव के भाव ही कारण हैं।

● अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान पर्यन्त तो सभी दस करण होते हैं। ● ऊपर अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानों में उपशान्तकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरण – ये तीन करण नहीं होते। वहाँ सात करण ही हैं। ● ऊपर संक्रमण करण का अभाव हो गया, वहाँ छह प्रकार के ही करण होते हैं। ● उपशांतकषाय ग्यारहवें गुणस्थान में संक्रमणकरण करता है। इस कारण वहाँ सात करण हैं, क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व का संक्रमण पाया जाता है। ● उससे ऊपर अयोगी में सत्त्व और उदय दो ही करण पाये जाते हैं।

१. उपाशान्तकषाय गुणस्थान में संक्रमणकरण मात्र मिथ्यात्व एवं मिश्रमोहनीय प्रकृति के ही होते हैं, अर्थात् इन दोनों के कर्मपरमाणु सम्यक्त्वमोहनीय रूप परिणम जाते हैं। अन्य कर्मों का संक्रमणकरण दसवें गुणस्थान में चला गया।

(२) इतना विशेष है कि जयधवला के अनुसार उपाशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में बन्ध एवं उत्कर्षणकरण भी नहीं माना है। **जयधवला १४, पृष्ठ ३७–३८।**

(३) ''दसकरणीसंग्रह'' ग्रन्थ में भी ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में प्रकृतिबंध की संभावना की अपेक्षा करके बन्धकरण भी कहा है, पर उत्कर्षणकरण तो वहाँ भी नहीं कहा। **– जयधवल १४, पृष्ठ ३८**

(४) आठवें गुणस्थान तक **अप्रशस्त** उपशम होता है।

– जयधवल १४, पृष्ठ ७

(५) आठवें के आगे **अप्रशस्त** उपशम होता है।

●

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :– निधत्तिकरण किसे कहते हैं?

उत्तर :– विवक्षित प्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण करने के और उदयावली में आने के योग्य न होना (उदीरणा के अयोग्य) निधत्तिकरण है।

२. प्रश्न :– निकाचितकरण किसको कहते हैं?

उत्तर :– विवक्षित प्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण करने अथवा उदीरणा करके उदयावली में आने के अथवा उत्कर्षण अथवा अपकर्षण करने के योग्य न होना निकाचितकरण है।

निकाचित भी प्रकृतिनिकाचित, प्रदेश निकाचित, स्थिति-निकाचित व अनुभाग-निकाचित के भेद से 4 प्रकार का होता है।

२. यह चारों प्रकार की कर्मावस्थाएँ अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ही होती हैं।
३. अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों द्वारा यह निधत्ति एवं निकाचितकरण टूट जाता है।
४. यह निधत्ति निकाचितरूप या निकाचनारूप अवस्थाएँ सकल प्रकृतियों की सम्भव हैं।

●